निरुक्त का हिन्दी भाष्य छपना आरम्भ होगया है।

(१) मूल निरुक्त (संस्कृत) भी साथ है।

मूल में विराम चिन्ह (कौमे) देकर और अलग २ परिच्छेद देकर ऐसा स्पष्ट कर दिया है, कि मूल को पढ़ने से भी अर्थ बहुत स्पष्ट होजाता है।

(२) मूल का अर्थ बड़ी अच्छी तरह खोल कर लिखा है। निरा अर्थ ही नहीं, किन्तु भाष्य लिख कर, और टिप्पणी देकर हरएक बात को पूरी तरह समझा दिया है।

(३) शब्दों की सिद्धि व्याकरण के सूत्रों से दिखलादी है।

(४) निरुक्त में जितने मन्त्र आए हैं, उन सब के हवाले दे दिये हैं।

(५) निरुक्त में वेद के जितने शब्द आए हैं, उन सब का अकारादिक्रम से सूची दिया है।

(६) जितने वेद मन्त्र आए हैं, उन सब का भी अकारादि क्रम से सूची दिया है।

(७) जिस २ वेद के जो २ मन्त्र आए हैं, उस २ वेद के अध्याय आदि के क्रम से अलग सूची दिया है।

(८) निरुक्त में जितने पुराने आचार्यों के नाम आए हैं, उन सब का आकारादि सूची दिया है।

ऐसी उत्तमता के साथ यह ग्रन्थ आर्षग्रन्थावलि में छप रहा है, ३) भेजने से बरस भर आपको एक २ अंक हर महीने मिलता रहेगा, हर एक अंक में १८×२२=८ पेजी के ५६ पृष्ठ रहेंगे।

पत्रादि भेजने का पता—

मैनेजर—आर्षग्रन्थावलि, लाहौर।

बृहदारण्यक का विषय सूची ।

विषय	पृष्ठ

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

❀ कार्यालय आर्षग्रन्थावलि की विक्रय पुस्तकें ❀

श्रीवाल्मीकि रामायण जिस पर ७००) रु० इनाम मिला है मूल्य
बिना जिल्द .... ५।)
सुनहरी जिल्द वाली .... ५।।।)
ईश .... =)
केन .... =)
कठ .... ।)
प्रश्न .... ।)
मुण्डक और माण्डूक्य .... ।-)
तैत्तिरीय .... ।≡)
ऐतरेय .... ≡)
छान्दोग्य .... २)
बृहदारण्यक .... २)
श्वेताश्वतर .... ।)॥
ग्यारह उपनिषदें इकट्ठी लेने में ५।।)
उपनिषदों की भूमिका ।)॥
उपनिषदों की शिक्षा
पहला भाग .... ॥=)
दूसरा भाग .... ॥)
तीसरा भाग .... ॥)
चौथा भाग .... ॥=)
वेदान्तदर्शन दो जिल्दों में ३॥)
श्रीमद्भगवद्गीता .... २)
गीता हमें क्या सिखलाती है ।)॥

आर्यपंचमहायज्ञपद्धति ।)॥
नवदर्शन संग्रह .... १)
योगदर्शन .... ।।।)
सांख्यदर्शन .... ॥=)
पारस्करगृह्यसूत्र .... १॥)
वेदउपदेश पहला भाग ।।।)
दूसरा भाग .... ।।।)
उपदेश सप्तक .... ।-)
स्वामीशंकराचार्य का जीवन
चरित्र .... ॥)
बालव्याकरण .... ॥)
प्रार्थना पुस्तक.... .... -)
ओंकार की उपासना और
माहात्म्य .... -)
वेद और रामायण के उपदेश
रत्न .... -)
वेद और महाभारत के उप-
देश रत्न .... -)
वेद मनुस्मृति और गीता के
उपदेश रत्न.... .... -)॥
हिन्दी की पहली ....)॥

मिलने का पता—मैनेजर
आर्षग्रन्थावलि,
लाहौर।

ओ३म्

भूमिका

(१) आरण्यक ब्राह्मण का वह भाग है, जिस में यज्ञ और उपासना के रहस्य और ब्रह्म-विद्या का वर्णन रहता है। इस को जंगल में पढ़ते पढ़ाते थे। इसलिये आरण्यक कहते हैं॥

(२) बृहदारण्यक उपनिषद्—शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। यह उपनिषद् बड़ी है, और इस में उपनिषद् के सारे विषय आजाते हैं। ब्रह्म-विद्या के अन्तरङ्ग बहिरङ्ग बहुत से साधनों का इस में वर्णन है। इसलिये इस को बृहदारण्यक कहते हैं॥

(३) शतपथ ब्राह्मण दो शाखाओं के मिलते हैं, एक माध्यन्दिन शाखा का, और दूसरा काण्वशाखा का। इन दोनों का पाठ प्रायः एक ही जैसा है, कहीं २ भेद है। अभी तक जो शतपथ मूल वा सभाष्य छपे हैं, वह माध्यन्दिनशाखा के हैं। यह बृहदारण्यक उपनिषद् इस शाखा की नहीं, किन्तु काण्वशाखा की है। इसीलिये यह इस छपे हुए शतपथ के आरण्यक भाग के साथ पूरी नहीं मिलती

(४) बृहदारण्यक उपनिषद् के छः अध्याय हैं। माध्यन्दिन शाखा के शतपथ में यह १४ वें काण्ड के चौथे अध्याय (वा तीसरे प्रपाठक) से आरम्भ होती है। इसका आरम्भ "द्वयाह" इस ब्राह्मण से होता है। पर यह काण्वशाखा की उपनिषद् इस शाखा के १७ वें काण्ड के अन्तिम छः अध्याय हैं और यह "उषाहवै" इस ब्राह्मण से आरम्भ होती है॥

(५) शङ्कराचार्य्य से पहले इस उपनिषद् पर भर्तृप्रपञ्च एक बड़ा सविस्तर भाष्य था। वह भाष्य माध्यन्दिनशाखा की उपनिषद् पर था। पर शङ्कराचार्य्य ने अपना भाष्य काण्वशाखा की

उपनिषद् पर किया। मालूम होता है, कि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने अपने योग्य शिष्य सुरेश्वराचार्य की खातिर काण्वशाखा की उपनिषद् पर अपना भाष्य किया है। स्वामी शङ्कराचाराय्यं की तैत्तिरीय शाखा थी, और सुरेश्वराचार्य्य की काण्वशाखा थी। इसीलिये तैत्तिरीय और बृहदारण्यक उपनिषदों के भाष्यों पर ही सुरेश्वराचार्य्य ने वार्तिक लिखे। और यह इस तरह पर हुआ, कि जब कई दिनों के शास्त्रार्थ के पीछे मण्डनमिश्र को शङ्कराचार्य्य ने जीत लिया, तो उस को संन्यासी बनाकर उस का नाम सुरेश्वराचार्य्य रक्खा। कुछ दिनों के पीछे सुरेश्वराचार्य्य ने शङ्कराचार्य्य से प्रार्थना की। भगवन! मुझे कोई आज्ञा दें। तब शङ्कराचार्य्य ने उसे कहाः—

सत्यं यदात्थ विनयिन् मम याजुषीया
शाखा, तदन्तगत भाष्य-निबन्ध इष्टः।
तद्वार्तिकं मम कृते भवता विधेयम्
सच्चेष्टितं परहितैकफलं प्रसिद्धम् ॥ १ ॥
तद्वत् त्वदीया खलु काण्वशाखा
ममापि तत्रास्ति तदन्त भाष्यम्।
तद्वार्तिकं चापि विधेय मिष्टं
परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः ॥ २ ॥

सच है, जो तुम कहते हो, हे प्यारे! मेरी (शङ्कराचार्य्य की) शाखा यजुर्वेद की है। उस के उपनिषद् (तैत्तिरीय) पर मैंने भाष्य किया है। अब मेरी खातिर तुम उस पर वार्तिक लिखो। क्योंकि सत्पुरुषों का काम औरों के हित के लिये ही होता है॥

इसी प्रकार तुम्हारी जो काण्वशाखा है, उसके उपनिषद् (बृहदारण्यक) पर भी मैंने भाष्य किया है, उसका भी एक अच्छा वार्तिक बनाओ, सत्पुरुषों की प्रवृत्ति लोगों की भलाई में होती है॥

(६) उपनिषद् का अर्थ समझने में कठिनाइयां बहुत हैं। इस विद्या में रहस्य भरे हुए हैं, जिनको गुरु के चरणों में बैठकर सीखते थे। सारी उपनिषदों में इस बात का उपदेश मिलता है, कि इस विद्या को गुरु के पास जाकर सीखो। ऐसे गुरु के पास, जिसने स्वयं भी गुरु से इसके मर्म समझे हैं। श्वेताश्वर की समाप्ति में स्पष्ट कह दिया है, कि :-

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः॥

जिसकी परमात्मा में परमभक्ति है, और जैसी परमात्मा में है, वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा को यह कही हुई बातें प्रकाशित होती हैं॥

(७) उपनिषदों के उपदेश की रीति ही इस बात को स्पष्ट कर देती है, कि यह विद्या शिष्य परम्परा से (सीना बसीना) एक दूसरे के पास आती रही है। बृहदारण्यक २।२ में इस शरीर में सात ऋषि बतलाते हुए यह कहा है "येही दोनों गौतम और भरद्वाज हैं। यह ही गौतम है और यह भरद्वाज है" यह उपदेश इस रीति पर हुआ है कि आचार्य शिष्य को दोनों स्थानों की ओर अंगुलि करके दिखलाता है, कि ये दोनों गौतम और भरद्वाज हैं। अक्षरों से इस इशारे का समझना कठिन है। शंकराचार्य दोनों से तात्पर्य दोनों कान लेते हैं, और आगे लिखते हैं "गौतम दायां कान है और

भरद्वाज बायां। वा गौतम बायां और भरद्वाज दायां है" देखिये, वही शंकराचार्य्य जो सन्दिग्ध बहुत कम होते हैं, वह भी ऐसी जगह पर सन्दिग्ध वाणी बोलते हैं ॥

प्रोफ़ैसर मैक्समूलर उपनिषद् की भूमिका में लिखते हैं :–

And I have again and again had to translate certain passages tentatively only, or following the commentators, though conscious all the time that the meaning which they extract from the text cannot be the right one.

" और मुझे कई हिस्सों का अनुवाद तो केवल प्रयत्न के तौर पर बार बार करना पड़ा, या मैंने दूसरे व्याख्याकारों का अनुसरण किया, यद्यपि मैं सर्वदा जानता था, कि जो अर्थ मूल का वह देते हैं, वह भी ठीक नहीं है " ॥

(८) यज्ञों का असर इस कुदरत पर क्या होता है ? और आत्मा पर क्या होता है ? यज्ञ का अङ्ग २ किसतरह पर ब्रह्माण्ड के अङ्ग अङ्ग की निशानी है, इत्यादि भेद, जो यज्ञविद्या के साथ सम्बन्ध रखते हैं, जब यह खुल जाएंगे, तो ये कठिनाइयां बहुत कुछ दूर हो सकेंगी। पर यह सफलता कई बड़े निपुण विद्वानों के परिश्रम के पीछे प्राप्त होगी, हमारा काम अभी आरम्भ का है।

मेरा यह काम छोटासा है। पर किया मैंने पूरे परिश्रम से है। मुझे पसन्द है सरल सीधा सच्चा अर्थ कहना। मुझे कहा गया था, कि "लोग दम मारने वालों पर मोहित होते हैं, और मोड़ तोड़ करनेवालों के साथी" पर मैं सब पर इस दोषारोप को झूठ समझता हूं। क्योंकि जितना बड़ा आदर मेरे इस छोटे काम का लोगों ने किया है। मैं यही समझता हूं, सभी मेरे साथ यह कह रहे हैं।

" सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः "

बृहदारण्यक उपनिषद् ।

पहला अध्याय * पहला ब्राह्मण † (अश्व ब्राह्मण)

अवतरणिका—स्वाभाविक यज्ञ में विराट् रूपी अश्व का वर्णन।

ओ३म् । उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः,सूर्य श्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्मा ऽश्वस्य मेध्यस्य । द्यौः पृष्ठमन्तरिक्ष मुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तर-दिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्ध-मासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि । ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद् विजृम्भते तद् विद्योतते, यद् विधूनुते तत् स्तनयति, यन्मेहति तद्वर्षति, वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥

उषा ‡ यज्ञ के योग्य घोड़े का सिर है, सूर्य आंख है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि § खुला (मुंह) है, और बरस यज्ञ के योग्य घोड़े का शरीर है । द्यौ पीठ है, अन्तरिक्ष पेट है, पृथिवी

---

* यह आरण्यकका तीसरा अध्याय है, पर उपनिषद्का पहला है।

† इस उपनिषद् में तीन प्रकार के अंक हैं, पहला अध्याय का दूसरा ब्राह्मण का और तीसरा खण्ड का । इस पहले ब्राह्मण का नाम अश्वब्राह्मण है ॥

‡ उषा=वह समय जब आकाश में लाली पड़ती है ॥

§ वैश्वानर अग्नि=वह अग्नि जो हरएक पदार्थ में फैला हुआ है, अर्थात् समष्टिरूप अग्नि ॥

छाती * है, दिशाएं पासे हैं, अन्तराल दिशाएं (कोणें) पसलियां हैं, ऋतुएं अङ्ग (भुजा, टांगें आदि) हैं, महीने और आधे महीने जोड़ हैं, दिन और रात पाओं हैं, तारे हड्डियें हैं, बादल मांस हैं, (पेट में) आधी हज़म हुई खुराक रेत है, नदियें अंतड़ियां† हैं, जिगर और फेफड़े ‡ पहाड़ हैं, औषधियां और वनस्पति लोम हैं, ऊपर को चढ़ता हुआ (सूर्य, अश्व का) अगला आधा (शरीर) हैं, (दुपहर से पीछे) नीचे ढलता हुआ (सूर्य) पिछला आधा (शरीर) है, जो जंभाई लेना है, वह चमकना है, जो (शरीर को) झाड़ना है, वह कड़कना है, जो मूतना है वह बरसना है, वाणी

---

* पाजस्य=छाती, शब्द सन्दिग्ध है। शंकराचार्य्य ने इसका अर्थ पादस्य=खुर किया है। (१) पर यदि यह अर्थ होता, कि पृथिवी खुर है, तो इसका वर्णन "दिन और रात पाओं हैं" इसके पीछे आना चाहिये था, क्योंकि शिर से लेकर पाओं तक अनुक्रम से सारे अंगों का वर्णन है। इस में "पाजस्य" को जो स्थान मिला है, वह खुर के वर्णन का नहीं। किन्तु छाती का है, अतः छाती अर्थ करने में क्रम ठीक रहता है। (२) और यहां ही आगे (१।२।३ में) द्यौ को पीठ और अन्तरिक्ष को पेट कहकर पृथिवी को उरस् = छाती बतलाया है। (३) वेद में जो पाजस् शब्द आता है, वह बल और मज़बूती के अर्थ में आता है और बल और मज़बूती का आधार छाती को वर्णन करना जगत् प्रसिद्ध है॥

† गुदा, बहुवचन है, इसका अर्थ मल को बहाने वाली अन्तड़ियां किया गया है॥

‡ क्लोमानः बहुवचन है, शंकराचार्य्य लिखते हैं, कि क्लोमानः यह सदा बहुवचन आता है, पर है एक ही वस्तु। अर्थात् हृदय के नीचे मांस का लोथड़ा और यह जिगर के मुकाबिल में बतलाया है, इसलिये फेफड़ा ख्याल किया गया है॥

(गर्जना) ही इसकी वाणी (हिनहिना) है *॥ १ ॥

भाष्य—इस में, अश्वमेध के घोड़े के विषय में जो रहस्य है, उस का वर्णन है। यह सारा जगत् समष्टिरूप में विराट् है, यह विराट् एक पुरुष है, भिन्न २ देवता उस के भिन्न २ अंग हैं, जैसे सूर्य नेत्र है और वायु प्राण है इत्यादि (देखो ऋग्० १०।९० और अथर्व १०।७।३२-३४)। इसी विराट् से हमारा जीवन बना है और इसी के अंगों से हमारे अंग बने हैं। जो कुछ इस बड़े ब्रह्माण्ड में है, वही हमारे इस छोटे शरीर में है "जो ब्रह्मण्डे सोई पिण्डे" (देखो ऐतरेयारण्यक २।४।१-२;२।३।३;) हमारे अन्दर की शक्तियां इन बाहर की शक्तियों के साथ ओत प्रोत हो रही हैं। यदि यह बाहर का जगत् शुद्ध पवित्र बलिष्ठ और दृढिष्ठ है, तो हमारी अध्यात्म शक्तियों पर उस का वैसा ही प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार यदि हमारी अध्यात्म शक्तियां शुद्ध, पवित्र, बलिष्ठ और दृढिष्ठ हैं, तो वे इस बाहर के जगत् को वैसा ही बना देने का सामर्थ्य रखती हैं। यज्ञ का नियम इसी सम्बन्ध के आधार पर है। बाहरी जगत् में जो स्वभावतः यज्ञ हो रहे हैं, उन्हीं का अनुकरण यह हमारे यज्ञ हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो यज्ञों का वर्णन है, उस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यज्ञ नया नहीं उत्पन्न किया जाता, किन्तु वह पहले ही

---

* जो लोग यहां यज्ञ के सम्बन्ध को उड़ाकर परमात्मा को घोड़े का रूप बना डालते हैं, वह यज्ञ की महिमा को तो जानते ही नहीं, पर घोड़ा बनाने में परमात्मा की महिमा को भी घटाते हैं। भला यह क्या महिमा हुई, कि मेंह बरसना परमात्मा रूपी घोड़े का मूतना है, और बादल का गर्जना परमात्मा रूपी घोड़े का हिनहिना है। छोटे यज्ञ और इस स्वाभाविक बड़े यज्ञ में तुल्यता दिखलाना तो महिमा की बात है, पर परमात्मा को घोड़ा बनाना कोई महिमा की बात नहीं। प्रत्युत महिमा को घटाना है॥

वर्तमान है, उस को फैला दिया जाता है। यज्ञ के लिये धातु "वितन्"=फैलाने, का प्रयोग होता है। हमारे यज्ञ स्वाभाविक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये हमारे यज्ञों के अंग स्वाभाविक यज्ञ के अंगों से उपमा दिये गए हैं। यज्ञ के तीनों अग्नियों को तीनों लोकों से उपमा दी गई है। गार्हपत्य अग्नि को भू-लोक से। दक्षिणाग्नि को अन्तरिक्ष से और आहवनीय अग्नि को द्युलोक से। ठीक इसी प्रकार यहां अश्वमेध का जो अश्व है, उस के अंगों को विराट् के अंगों से उपमा दी गई है। व्यष्टिजीवन को समष्टि जीवन के साथ मिला देना यज्ञ का रहस्य है। जब इस विराट् पुरुषकी आज्ञा से यह अग्नि ही वाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुआ है और वायु ही प्राण बन कर नाक में प्रविष्ट हुआ है (देखो ऐतरेयारण्यक २।४।२) तो अब भी वाणी अग्निरूप और प्राण वायु रूप है। यह बात ऐतरेयारण्यक (३।१।७) के देखने से और भी स्पष्ट हो जाएगी, जहां पुरुष की विभूतियोंका वर्णन है। सो इस उपर्युक्त अभिप्राय से यहां अश्व के अंग और कर्मों की विराट् के अंगों और कर्मों के साथ एकता दिखलाई है। यही बात "आदित्यादि मतयश्चाङ्ग उपपत्तेः" (ब्रह्मसूत्र ४।१।६) में दिखलाई है। ऐसे मर्म यज्ञ का आत्मा हैं, जो इन के समझे विना, और, यज्ञ काल में इन का ध्यान किये विना यज्ञ करता है, उस का यज्ञ आत्मा से शून्य बाहर का आडम्बर है और वह बहुत थोड़ा फल देता है। छान्दोग्य उपनिषद् (१।१।१०) में कैसा उत्तम कहा है "कर्म तो दोनों ही करते हैं जो इस को ठीक समझता है और जो नहीं समझता है, पर समझना और न समझना एक जैसा नहीं, जिस कर्मको यह पुरुष विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् (रहस्य ज्ञान) के साथ करता

है, वही कर्म पूरा बल रखता है" इसलिये कर्म करने वाले को उसके मर्मका जानना, और, कर्म करते समय उसी में लौलीन हो जाना, आवश्यक है। और यह लौलीन होजाने का अभ्यास जब बढ़ जाता है, तो कर्मके बिना निरे अपने संकल्पबल से भी उसी फल को प्राप्त कर लेता है। संकल्प में बड़ी प्रबल शक्ति है, इस विषय में शाण्डिल्य ने (छान्दो० ३।१४) कैसा प्रबल कहा है, कि "यह पुरुष संकल्पमय है, यह जैसा इस लोक में संकल्प रखता है, इस से अलग होकर वैसा ही जा बनता है, उसको चाहिये, कि यह दृढ संकल्प उत्पन्न करे, कि, "यह आत्मा जो एक अणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और इस सारी दुनिया से भी अत्यन्त बड़ा है.... मैं यहां से अलग होकर उसी को प्राप्त हूंगा, पर यह पक्का विश्वास हो, सन्देह की कोई रेखा न रही हो" इसीप्रकार दूसरी जगह (छान्दो० ५। १८—२४) में कैसा सुन्दर उदाहरण मिलता है, कि प्रबल संकल्प एक हृदय से उठकर किसप्रकार सारे विश्व पर अपना प्रभाव डाल देता है। और वहां ही यह भी स्पष्ट मिलता है, कि जब संकल्प में पूरा बल आजाता है, तब ही अग्निहोत्र सच्चा अग्निहोत्र बनता है और एक शक्तिवाला पुरुष केवल संकल्प की शक्ति से भी उसी फल को उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार यहां भी यही उद्देश्य है, कि एक शक्ति वाला पुरुष बिना अश्वमेध किये केवल संकल्प की शक्ति से भी उसी फल को प्राप्त करे। ज्ञानी के लिये यही अश्वमेध है, कि वह इस प्रकार से विराट् का ध्यान करे॥

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत, तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्य परे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः

भूवतुः। हयोभूत्वा देवानवहद् वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्यबन्धुःसमुद्रोयोनिः॥२॥

दिन घोड़े के आगे की महिमा (के तौर पर) चढ़ा, उस का पूर्व समुद्र में स्थान (योनि) है। रात इस के पीछे की महिमा (के तौर पर) प्रकट हुई, उसका पश्चिमी समुद्र में स्थान है। ये दोनों घोड़े की दोनों ओर की महिमा बने॥ *

आगे बढ़ने वाला होकर वह (घोड़ा) देवताओं को लेगया, वाजी होकर गन्धर्वों को, दौड़ने वाला होकर असुरों को और अश्व (सामान्य घोड़ा) होकर मनुष्यों को। समुद्र ही † इसका बन्धु है और समुद्र ही इसका उत्पत्ति स्थान है॥

दूसरा ब्राह्मण ‡ अग्नि (ब्राह्मण)

---

* दो ग्रह अर्थात् यज्ञ के वर्तन, जिन में हवि डाली जाती है, वे अश्वमेध में घोड़े के आगे और पीछे रक्खे जाते हैं। अगला ग्रह सोने और पिछला चांदी का होता है। यज्ञ की परिभाषा (इस्तलाह) में इन दोनों को महिमा (बड़ाई) कहते हैं। और जिस जगह पर यह दोनों ग्रह (बर्तन) रक्खे जाते हैं, उसको योनि कहते हैं। यहां दिन अगली महिमा (सोने का बर्तन) कहा है। और रात्रि पिछली महिमा (चांदी का बर्तन) कहा है। और पूर्वी पश्चिमी समुद्र इन दोनों बर्तनों के रखने की जगह हैं। यह ऐसे अभिप्राय से कहा है जैसे जापान को सूर्य्य चढ़ने का स्थान कहते हैं। वाजसनेयि संहिता २३। २; ४। में महिमा और योनि का वर्णन है।

† समुद्र=द्रवावस्था में प्रकृति, जिस से आगे विराट् उत्पन्न हुआ; समुद्र=परमात्मा अथवा प्रसिद्ध जो समुद्र है;(शंकराचार्य)

‡ इस ब्राह्मण का नाम अग्नि ब्राह्मण है। इस में अश्वमेध के ज्ञात[illegible]के का तत्त्व उपदेश किया है, यह माध्यन्दिन शतपथ १०।६। यह पु[illegible] है॥

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्यु नैवेदमावृतमासीत्-अशनायया । अशनाया हि मृत्युः । तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति । सोऽर्चन्नचरत्, तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चतेवैमे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं । कं-हवा अस्मै भवाति,य एव मेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥ १ ॥

पहिले यहां कुछ नहीं था (जो अब यहां दीखता है) मृत्यु से ही यह ढका हुआ था—भूख से * । क्योंकि भूख मृत्यु है ।

---

* जिस तरह मट्टी के वर्तन मट्टी से निकल कर अलग रह कर फिर मट्टी में मिल जाते हैं । और मट्टी ही वन जाते हैं । इसी तरह यह जगत् प्रकृति से निकल कर फिर प्रकृति में मिल जाता है और प्रकृति ही वन जाता है । उस प्रकृति के अन्दर उसका अधिष्ठाता ब्रह्म है जो इस जगत् को अपने असली रूप में लेजाता है । प्रलय काल में प्रकृति के साथ मिला हुआ वह ब्रह्म इसका मृत्यु है, मानों वह इसके लिये एक भूख है, जिस की खुराक यह सारा जगत् बन जाता है । कठवल्ली (१ । २ । २४) में सारे जगत् को उसका भोजन बतलाया है । " अत्ता चराचर ग्रहणात् " (ब्रह्मसूत्र १ । २९) में सिद्ध किया है यह खाने वाला परमात्मा है क्योंकि (प्रलयकाल) में (सारे) चराचर को ग्रहण कर लेता है । इसी प्रकार यहां भी प्रलयकाल में प्रकृति के अधिष्ठाता ब्रह्म को मृत्यु और भूख कहा है । (प्रश्न) कोई वस्तु नास्तित्व से आस्तित्व में नहीं आती, यह जगत् जब प्रलयकाल में था ही नहीं, तो कहां से उत्पन्न हुआ (उत्तर) प्रलयकाल में भी था, इसी लिये प्रकट हुआ (प्रश्न) यहां तो लिखा है कि कुछ नहीं था, फिर कैसे कहते हो, था (उत्तर) इसी के आगे तो लिखा है, कि यह मृत्यु से ही ढपा हुआ था । जो ढपा हुआ था, वह था । जो ढपी हुई वस्तु है, वह अवश्य है, उस से कौन इनकार कर सकता है । (प्र०) यदि था, तो दीखता क्यों नहीं था (उ०) किस को

उसने सोचा कि "मैं शरीर वाला होऊं *" वह पूजा करता हुआ विचरा. इस प्रकार उसके पूजा करते हुए जल † उत्पन्न।

दीखता, ब्रह्म को वा जीव को(प्र०)ब्रह्म को(उ० ब्रह्म को दीखता था (प्र० तुम कैसे जानते हो,कि उसको दीखता था(उ०)तुम कैसे जानते हो, कि नहीं दीखता था (प्र०) मैंने तो यूं ही कहा है, आप से उत्तर पाने के लिये (उ०) अच्छा तो सुनिये, क्योंकि यह ढपा हुआ था, इस लिये था। और मृत्यु अर्थात् अधिष्ठाता ब्रह्म से ही ढपा हुआ था, इस लिये वह इसको अवश्य जानता था (प्र०) अच्छा तो जीव को क्यों नहीं दीखता था (उ०) जीव को कैसे दीखता (प्र०) जैसे अब दीखता है (उ०) अब तो आंखों से दीखता है, उस समय आंखें न थीं (प्र०) क्या अगर आंखें होतीं, तो देख पाता (उ०) नहीं देख पाता (प्र०) फिर यह क्यों (उ०) इस लिये कि ढपा हुआ था, ढपी हुई वस्तु अब तुम्हें कब दिखलाई देती है (प्र०) ढप कैसे गया (उ०) मृत्यु ने उसको ढांप दिया। जो पदार्थ विद्यमान है, उसके ढांपनेवाला दूसरा पदार्थ होता है। जैसे दीवार की ओट में कुछ नहीं दीखता। और जो अभी पैदा नहीं हुई, वह अपने कारण में ढपी रहती है जैसे तिलों में तेल, दूध में मक्खन और मट्टी में मट्टी के बर्तन। जो होकर नष्ट होती है वह भी अपने कारण में ढप जाती है, जैसे जलकर लकड़ी। नाश का अर्थ ही छिप जाना (न दीखना) है। अभाव किसी वस्तु का नहीं होता। जो कुछ उत्पन्न हुआ है,मृत्यु उसको एक दिन छिपा देती है–अपने कारण में ढांप देती है। इसी प्रकार इस जगत् को भी मृत्यु ने छिपा दिया था। अभाव इसका नहीं था और न अभाव से उत्पन्न हुआ। स्वामी शंकराचार्य ने यहां अपने भाष्य में बड़ी प्रबल युक्तियों से सिद्ध किया है, कि अभाव से भाव की उत्पत्ति किसी तरह नहीं होसकी उनका यह विचार बड़ा ही मनोरञ्जक है॥

* अर्थात् इस प्रकृति से एक रचना रचूं, जो मेरे शरीर स्थानी हो, जिस का अन्तरात्मा होकर मैं उसको अपने नियम में चलाउं॥

† पूजा करता हुआ, सृष्टि के रचने में मैं समर्थ हूं, इस प्रकार ब्रह्म का अपने सामर्थ्य को देखना अपना आदर वा अपनी पूजा है॥

हुए। (उसने कहा) निश्चित मेरे लिये जल *हुआ है, जब मैं पूजा कर रहा था। यही अर्क (=जल) का अर्कपन है †। निश्चित उसके लिये जल (वा सुख) होता है, जो इस प्रकार अर्क के इस अर्कपन को जानता है॥

* जब प्रकृति में इस जगत् की रचना के लिये क्षोभ (हलचल) उत्पन्न होता है॥ तो एकदम यह स्थूल जगत् उत्पन्न नहीं होजाता, किन्तु पहिले एक सूक्ष्म सृष्टि बनती है, जिसको इस स्थूल जगत् का कारण वा बीज कहते हैं। उस सूक्ष्म सृष्टि को आर्ष ग्रन्थों में जल वा समुद्र के नामों से लिखा है। अघमर्षण मन्त्रों (ऋतं च सत्यं ऋग् १०। १९०।१–३) में "ततः समुद्रो अर्णवः" से इसी समुद्र की सृष्टि कही है। क्योंकि प्रलय (रात्रि) के पीछे यही सूक्ष्म सृष्टि होती है। पृथिवी का समुद्र पृथिवी के बनने पर होसक्ता है, पहले नहीं। मनु १। ८ में इसी सूक्ष्म सृष्टि को जल कहा है। इस सूक्ष्म सृष्टि को समुद्र वा जल कहने का यह अभिप्राय है, कि यह समुद्र की तरह इस आकाश में भर जाती है, और बहते हुए पानी की तरह उस में क्रिया रहती है, पतली होती है और इस जगत् का बीज है। यही सूक्ष्म सृष्टि ब्रह्म का पहला शरीर है। इसी शरीर वाला ब्रह्म हिरण्य-गर्भ वा ब्रह्मा कहलाता है॥

† अर्क का अर्कपन है अर्थात् जल क्यों अर्क कहा जाता है। अर्च् पूजा करना, और क=सुख। जल पूजा करते हुए हुआ है और सुख का साधन है इस लिये जल अर्क है (अरबी में, अर्क पसीना)

स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं, कि अर्क से यहां अभिप्राय अग्नि है; क्योंकि अश्वमेध के अग्नि का यह प्रकरण है। यह सम्भव है, परन्तु अक्षरों के स्वारस्य से यहां अर्क से जल का अर्थ लेना ही ठीक प्रतीत होता है, जिन से कि परम्परा से अग्नि उत्पन्न हुआ। यहां अग्नि के प्रकरण का यह सम्बन्ध है जैसा आगे लिखा है, कि जलों से पृथिवी हुई उस पर ब्रह्म ने श्रम किया, और जब उस ने श्रम किया और तप तपा, तो उस से अग्नि उत्पन्न हुई। यह अग्नि तीन रूपों में है, अग्नि, सूर्य, और वायु। और यह तीनों मिल कर प्राण कहलाता है। आनन्द तीर्थ ने भी यहां अर्क से जल अर्थ ही लिया है॥

आपो वा*अर्कस्तद्यदपां शर आसीत् तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्, तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निर्वर्तताग्निः ॥ २ ॥

जल निसन्देह अर्क है, वह, जो जलों की झाग थी, वह जम गई। (और) वह पृथिवी बनी † उस (पृथिवी) में उस (मृत्यु) ने श्रम (मेहनत) किया। जब उसने श्रम किया और गर्म हुआ, तब उस से तेज (रूप) रस निकला—अर्थात् अग्नि ‡ ॥

सत्रेधाऽऽत्मानंव्याकुरुतादित्यंतृतीयंवायुंतृतीयꣳस एष प्राणस्त्रेधा विहितः तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौचासौ च सक्थ्यौ। दक्षिणाचोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्ष

---

* इस का अर्थ अथवा करना बड़ी भारी भूल है यह 'वा' नहीं वै है।

† आधे बिलोए दूध में जो ऊपर मलाई वाली झाग आ जाती है, उसका नाम शर है। यहां सूक्ष्म सृष्टि को जल कहा है, उस में लगातार क्रिया रहने के पीछे जो शरकी नाईं फूला हुआ घना भाग इस में से अलग हुआ, वही ज्यादा घना होकर एक गोला बन गया। पृथिवी से यहां तात्पर्य गोला है। ऋग्वेद (१ । १०८ । ९-१०) में इसी अभिप्राय से भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों के लिये पृथिवी शब्द का प्रयोग है।

‡ पहले उसका काम सूक्ष्म सृष्टि में था, अब जब स्थूल सृष्टि हुई, तो उसका काम इसमें आया, यह गोला घूमने लगा, दीप्त हुआ प्रचंड हुआ और इस से अग्नि प्रकट हुई। अश्वमेध का अग्नि जिस को अर्क कहते हैं, वह इसी ब्रह्माण्डी अग्नि का व्यष्टि रूप है। इस सारे ब्राह्मण का उद्देश्य उस अग्नि (अर्क) का असली रूप वर्णन करने में है॥

मुदर भियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठनो यत्र क्वचैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३ ॥

उस (अग्नि) ने तीन प्रकार से अपने आपको बनाया, आदित्य (सूर्य) तीसरा है, वायु तीसरा है (और एक तीसरा अग्नि है*) सो यह प्राण तीन प्रकार मे विभक्त हुआ है। उस का, पूर्व की दिशा सिर है, वह और वह (अर्थात् उत्तरपूर्व और दक्षिणपूर्व) दोनों भुजाएं हैं । और इसकी, पश्चिम दिशा पूंछ है, और वह और वह (उत्तर पश्चिम और दक्षिण पश्चिम) रानें हैं। दक्षिण और उत्तर (दिशा) पासे हैं, द्यौ पीठ है, अन्तरिक्ष पेट है, यह (अर्थात् पृथिवी) छाती है † । सो यह (विराट् अग्नि) जलों में प्रतिष्ठित है ‡ वह, जो इस (रहस्य) को जानता है, वह जहां कहीं जाता है, वहीं प्रतिष्ठा पाता है ॥

सोऽकामयत द्वितीयो मे आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳसमभवदशनाया मृत्युः । तद् यद् रेत आसीत् स संवत्सरो ऽभवत् । न ह पुरा ततः

---

* जब अग्नि, वायु और आदित्य तीनों त्रिलोकी में विभक्त हुए, तो तीनों ने अपनी २ महिमा से उसी की महिमा का प्रकाश किया। आदित्य के अन्दर रह कर वही जगत् को प्रकाश देता है और वायु के अन्दर रह कर वही प्राणों की रक्षा करता है, और वही फिर उस अग्नि में प्रकाशित है, जिस में यज्ञ करने वाला अपनी हवि देता है ॥

† प्रथम ब्राह्मण में अश्व को विराट् वर्णन किया है। यहां अग्नि (अर्क) को विराट् वर्णन किया है ॥

‡ यह स्थूलसमष्टि रूप विराट् जलों में अर्थात् सूक्ष्मसमष्टि (हिरण्यगर्भ) में ठहरा हुआ है ॥

संवत्सर आस । तमेतावन्तं कालमबिभः, यावान् संवत्सरः । तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत । तं जातमभिव्याददात् स भाणकरोत् सैव वागभवत् ॥ ४ ॥

* उस ने चाहा "मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो" इस निमित्त से वह मन द्वारा (अपने) जोड़े वाणी के साथ संगत हुआ † भूख मृत्युः । तब जो बीज था, वह बरस बन गया । उस से पहले बरस नहीं था । (वाणी ने) उसको उतना काल (गर्भ) में धारण किया, जितना बरस है । उसको इतने काल के पीछे उत्पन्न किया । जब वह उत्पन्न हुआ, तो (मृत्यु ने) उसकी तर्फ मुंह खोला । उसने भाण (शब्द) किया, वही वाणी (आवाज़) हुई ॥

स ऐक्षत यदि वा इममभिमंस्ये, कनीयोऽन्नं करिष्य इति । स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदंकिञ्चर्चो यजूंषि सामानिच्छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून् । स यद्यदेवासृजत, तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितत्वम् । सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥ ५ ॥

---

* मृत्यु, जिसने पहले जल, पृथिवी और अग्नि आदि को अपना शरीर उत्पन्न किया है । अब उसने चाहा, मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो, जो बरस या बरस भर का यज्ञ है । बरस सूर्य के अधीन है । और सूर्य की उत्पत्ति पहले कह दी है ॥

† वाणी के साथ संगत हुआ, इससे तात्पर्य है, कि वेद में जो सृष्टि का क्रम अनादि से विधान किया हुआ है, उसका ख्याल किया (शंकराचार्य)

उसने सोचा 'यदि मैं इसको मारता हूं, तो थोड़ा सा अन्न बनाउंगा (अन्न होगा)' तब उसने उस वाणी के साथ * उस शरीर (=संवत्सर) से उस सब को रचा, जो कुछ यह ऋचाएं, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, मनुष्य और पशु है । उस (मृत्यु) ने जो २ कुछ रचा, उसको खाने लगा । निःसदेह वह सब कुछ खा जाता है, यह अदिति का अदितिपन है—(वह सब कुछ खा जाता है, इसलिये मृत्यु को अदिति कहते हैं,) । वह इस सब का खाने वाला होता है, और सब उसका अन्न होता है। जो इस प्रकार अदिति के अदितिपन को जानता है॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति । सोऽश्राम्यत, स तपोऽतप्यत, तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्।प्राणावैयशोवीर्यम्।तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳश्वयितुमध्रियत,तस्य शरीर एव मनआसीत्।६

उसने चाहा "एक बहुत बड़े यज्ञ से फिर यजन करूं" उस ने श्रम किया और उसने तप तपा । जब वह श्रम कर चुका और तप तप चुका , तो उसका यश वीर्य (उस से) निकल गया, निःसन्देह यश वीर्य प्राण† है।प्राणों के निकल जाने पर (उसका) शरीर फूलने लगा। उसका मन (ख्याल) शरीर में ही लगा रहा ॥

---

* उस वाणी से तात्पर्य वेदरूप वाणी है । और आगे जो इसी से वेदों की उत्पत्ति कही है, उसका तात्पर्य यह है, कि पहले वेद अव्यक्त (अप्रकट) थे, फिर व्यक्त हुए (शंकराचार्य), वाणी से अभिप्राय विराट्की वाणी-भाण् शब्द है। उस वाणी से वेदों को रचा और विराट् के शरीर से मनुष्य और पशुओं को रचा (सुरेश्वराचार्य)

† प्राण से इन्द्रिय और प्राण दोनों अभिप्रेत हैं । इन्द्रियां और प्राण ही शरीर के यश और बल हैं॥

सोऽकामयत, मेध्यं म इद॰ स्यादात्मन्व्येनन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवद् यदश्वत्, तन्मेध्यंमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याऽश्वमेधत्वम् । एष हवा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद । तमनवरुध्यैवामन्यत । त॰ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत। पशूनदेवताभ्यः प्रत्यौहत्। तस्मात् सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते । एष हवा अश्वमेधो य एष तपति । तस्य संवत्सर आत्माऽयमाग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ। सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेव। अपपुनर्मृत्यं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥ ७ ॥

उसने चाहा "यह मेरा (शरीर) मेध्य (यज्ञ के योग्य) हो जाए" । इस लिये तो वह अश्व हुआ, कि वह फूल गया था (अश्वत) । (और अब) वह यज्ञ के योग्य (मेध्य) हुआ। यह अश्वमेध का अश्वमेधत्व है । निःसदेह, यह पुरुष अश्वमेध को जानता है, जो इस (रहस्य) को इस प्रकार जानता है। (अब) उस (अश्व) को उसने बिना रोके हुए (आजाद,-खुला) ख्याल किया । उसको, बरस के पीछे अपने लिये भेंट किया, (और दूसरे) पशुओं को देवताओं को दिया। इसलिये (अब भी यज्ञ करने वाले) पंवित्र किये हुए (जल छिड़के हुए) प्रजापति सम्बन्धी (अश्व) को सब देवताओं के अर्पण करते हैं। निःसन्देह यह है अश्वमेध, जो यह चमकता है (तपता है= सूर्य) और बरस उसका शरीर है । यह अग्नि (जो व्यापक

वैश्वानर है) यज्ञ का अग्नि (अर्क) है, और ये लोक उस का शरीर हैं, सो यह दोनों अर्क और अश्वमेध (यज्ञ) हैं । और वह फिर एक ही देवता है—मृत्यु ही । (जो इस रहस्य को जानता है) वह मृत्यु को भांज (शिकस्त) दे देता है । मृत्यु उसको नहीं पकड़ता, मृत्यु इसका आत्मा होजाता है । वह इन देवताओं में से एक होता है * ॥

---

* यहां ४-७ का अर्थ लिख दिया है । यहां के हर एक रहस्य को प्रकाश करना कठिन है । समस्त तात्पर्य यह है, (४) कि जब तीनों लोक अलग हुए, और इन में वह पहली क्रिया बराबर रही । पृथिवी पर सूर्य चमका और ऋतु बदलने लगे । वह बरस हुआ । (५) यदि यह विराट् इस से अगली सृष्टि उत्पन्न हुए बिना ही लीन होजाता, तो यह बहुत थोड़ी सृष्टि होती, और सृष्टि रचने का प्रयोजन अधूरा रहता । इसलिये सृष्टि आगे बढ़ी और इस पृथिवी पर मनुष्य और पशु, यज्ञ और वेद प्रकट हुए । जो कुछ यह उत्पन्न हुआ है, यह सब उस मृत्यु से हुआ है और उसी में लीन होगा, (६) अब दूसरी कल्पना इसी विराट् में एक बड़े यज्ञ (अश्वमेध) की कीगई है । जब तक आत्मा के साथ प्राण इस शरीर में हैं, शरीर में महिमा है कान्ति है और बल है । जब आत्मा इसको छोड़ता है, प्राण छोड़ देते हैं । यह मुर्दा हो जाता है और फूल जाता है । इसी प्रकार इस विराट् में जो आत्मा है, उसके साथ ही इसकी महिमा है, उसके साथ ही इसका बल है, आत्मा इस से अलग हुआ (कल्पना है) तो प्राण अलग हुआ, यह मुर्दा हुआ और फूल गया (७) जिस लिये यह फूल गया (अश्वत्) इसलिये इस विराट् का नाम अश्व है । और जिस लिये उसके प्रवेश करने से फिर पवित्र होगया, इसलिये यह यज्ञ के योग्य (मेध्य) है । इसी मेध्य अश्व को पहले (१ । २) में विराट् रूप दिखला आए हैं । इस विराट् में वही व्यापक है मृत्यु । और यह एक २ देवता उसी के अंग हैं यह विराट् सब कुछ उसी अन्तरात्मा की भेंट करता है जो वर्ष के भिन्न २ ऋतुओं में इस में उत्पन्न होता है । बसन्त इसका आज्य (घी) है

तीसरा ब्राह्मण (उद्गीथ ब्राह्मण)*

संगति—शरीर में प्राण का महत्व दिखला कर प्राण सदृश जीवन धारने का उपदेश देते हैं ।

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त, ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति॥१॥

प्रजापति की सन्तान दो भागों में विभक्त हुई देवता और असुर । उनमें से देवते थोड़े ही और छोटे थे, असुर बड़े थे। वह इन लोकों के विषय में एक दूसरे से आगे बढ़ने की दौड़ धूप में लगे । उनमें से देवताओं ने कहा, हां, यज्ञ में उद्गीथ † के द्वारा असुरों से हम आगे बढ़ सकेंगे ॥

गर्मी इन्धन है और शरत् (असूज, कार्तिक) हवि है (ऋग्० १० । ९० ।६) हां यह समष्टि जगत् अपनी उपज समेत अपने आप को उस की भेंट करता है । और यह पृथिवी आदि अपनी २ उपज समेत अपने २ देवता की । इस अश्वमेध का अग्नि यही है जो यह वैश्वानर सारे व्यापक है और त्रिलोकी जिसका शरीर है और यही चमकता हुआ सूर्य अश्वमेध है । वस्तुतः यह एक ही देवता है वही मृत्यु है । वही समष्टि में है, वही व्यष्टि में है । उसी से यह जगत् बाहर आता है और उसी में लीन होता है । वही इसके लिये प्राण है वही इसके लिये मृत्यु है । यह मृत्यु का भी मृत्यु है । जो इसको पहचान ले, मौत उस से दूर भाग जाए, या यूं कहो कि मृत्यु इस का अपना आप बन जाए और यह अमर होकर द्यौ लोक में देवता की तरह चमके ॥

* यह तीसरा ब्राह्मण उद्गीथ ब्राह्मण कहलाता है । माध्यन्दिन शाखा की उपनिषद् यहां से आरम्भ होती है ॥

† उद्गीथ सामवेद का एक भाग है, जो ओ३म् से आरम्भ होता है । उद्गाता इसको सोम यज्ञ में गाता है । सोम यज्ञ सात हैं—

तेह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति, तथेति, तेभ्यो वागुदगायत् । यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत् कल्याणं वदति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥२॥

उन्हों ने वाणी को कहा "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर" । तथास्तु कह कर वाणी ने उनके लिये उद्गाता का काम किया । जो वाणी में भोग है, उसको उसने देवताओं के लिये गाया, और जो अच्छा बोलना है वह अपने लिये । उन्हों ने (असुरों ने) समझा, कि निःसंदेह इस उद्गाता से ये हमसे लंघ जाएंगे, इसलिये उस पर हमला करके (उसको) बुराई (पाप) से वींध दिया । वह, जो, वह बुराई है । वह यही बुराई है जो २ यह अयोग्य बोलना (झूठ, द्रोह, असभ्य, कठोर बोलना) है ॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति । तेभ्यः प्राण उद्गायद् । यः प्राणेभोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥ ३ ॥

तब (देवों ने) सांस (प्राण) को कहा "तू हमारे लिये

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम । येही सात यज्ञ सोम की सप्त संस्था हैं । (देखो आश्वलायन श्रौ० सू० अध्याय ६)

उद्गाता का काम कर" "तथास्तु" कह कर सांस ने उनके लिये उद्गाता का काम किया । जो सांस में भोग है, उसको उसने देवताओं के लिये गाया और जो अच्छा सूंघना है वह अपने लिये । उन्होंने (असुरों ने) समझा, कि निःसंदेह इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे । इसलिये उस पर हमला करके उस को पाप से वींध दिया । वह, जो, वह पाप है, वह यही पाप है, जो यह अयोग्य सूंघना है ॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत् । यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मानाऽविध्यन् स यः सपाप्मायदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ४

तब उन्होंने नेत्र को कहा, "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर" 'तथास्तु' कह कर उसने उन के लिये उद्गाता का काम किया । (असुरों) ने समझा, कि निःसंदेह इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे, इसलिये (उस पर) हमला करके उसको पाप से वींध दिया । वह जो वह पाप है, यही वह पाप है जो यह अयोग्य देखना है ॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद् यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत्कल्याणं शृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति, तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं शृणोति स एव सपाप्मा

तब उन्होंने श्रोत्र (कान) को कहा, "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर" 'तथास्तु' कह कर उसने उनके लिये उद्गाता का काम किया। जो श्रोत्र में भोग है, वह उसने देवताओं के लिये गाया और जो अच्छा सुनना है, वह अपने लिये। (असुरों ने) समझा, कि निःसंदेह इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे, इसलिये हमला करके उसको पाप से वींध दिया। वह, जो, वह पाप है यही वह पाप है। जो २ यह अयोग्य सुनना है॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्। यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत् कल्याणं संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा, यदेवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स एव स पाप्मा। एवमु खल्वेता देवता पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन्॥ ६॥

तब उन्होंने मन को कहा "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर" "तथास्तु" कहकर मन ने उनके लिये उद्गाता का काम किया। जो मन में भोग है उसको देवताओं के लिये गाया, जो अच्छा संकल्प (ख्याल) है, उसका अपने लिये। (असुरों ने) समझा, इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे। उन्होंने हमला करके उसको पाप से वींध दिया। वह, जो वह पाप है, यही वह पाप है। जो यह अयोग्य संकल्प करना है। इस प्रकार उन्होंने इन देवताओं को बुराइयों से मिला दिया इस प्रकार उन्होंने इन देवताओं को बुराई से वींधा॥

अथ हेममसान्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथे-ति । तेभ्य एष प्राण उदगायद्, ते विदुरनेन वै न उद्-गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविव्यत्सन् स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंसेतैवंहैव विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशुः । ततो देवा अभवन् परा-ऽसुराः । भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति, य एवं वेद ॥ ७ ॥

तब उन्हों ने यह जो मुख में प्राण है, इसको कहा "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर" तथास्तु कह कर प्राण ने उनके लिये उद्गाता का काम किया। उन (असुरों) ने समझा, इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे । (उस पर) हमला करके उसको पाप से बींधना चाहा । पर जैसे मट्टी का ढेला पत्थर को लग कर चूर २ होजाए, ठीक इसी तरह वे (असुर) चूर २ होते हुए चारों ओर नष्ट हुए । तब देवता बढ़े और असुर हारे । जो इस रहस्य को ठीक २ समझ लेता है, वह स्वयं बढ़ता चला जाता है, और इस का शत्रु जो इस से द्वेष करता है, हारता है ॥

भाष्य—इस तीसरे ब्राह्मण में यह सारा वर्णन एक आख्यायिका की रीति पर लिखा है। अभिप्राय यह है कि हर एक मनुष्य के अन्दर दो प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न होती रहती हैं। एक वे जो धर्म और परोपकार की वृत्तियां हैं, और दूसरी पाप और स्वार्थ की। इन्हीं वृत्तियों को गीता अध्याय १६ में दैवी और आसुरी संपद कहा है । यही देवता और असुर हैं। ये वृत्तियां इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होती हैं, इसलिये इन्द्रियों को देव और असुर कहते हैं। जो वृत्तियें स्वार्थ की हैं, वे मनुष्य के साथ ही जन्म लेती हैं,

इस लिये वे बड़ी हैं। पर धर्म और परोपकार की वृत्तियां जन्म के बहुत पीछे, शास्त्र के अभ्यास और आचार्य के प्रसाद से, उत्पन्न होती हैं, इसलिये वे छोटी हैं। स्वार्थ की वृत्तियां यूं भी अधिक हैं, लोक में प्रायः इन्हीं का राज्य है, ऐसी जगह बहुत थोड़ी हैं, जहां केवल शास्त्रीय वृत्तियों का ही अधिकार है। जब मनुष्य पर शास्त्र की सचाई असर करती है, तब धर्म और परोकार की वृत्तियां उदय होती हैं, और वे पाप और स्वार्थ की वृत्तियों को दबा लेना चाहती हैं। दूसरी ओर आसुरी वृत्तियां दैवी वृत्तियों को निकालना चाहती हैं। यही देवता और असुरों की स्पर्धा है; यही देवासुर संग्राम है॥

स्वार्थ की वृत्तियां किस तरह दबती हैं और परोपकार की वृत्तियां किस तरह प्रबल बनती हैं, इसके लिये जो उपाय देवताओं ने ढूंढा; वह यज्ञ था। क्योंकि स्वार्थी जीवन को परमार्थी बनाने वाला, व्यष्टि जीवन को समष्टि के साथ सम्बद्ध करने वाला उपाय यज्ञ के तुल्य और कोई नहीं, अतएव देवों ने ज्योतिष्टोम यज्ञ आरम्भ किया॥

अब उद्गाता का काम किसको सौंपना चाहिये, उद्गाता यजमान की कामनाएं पूरा होने के लिये उद्गीथ गाएगा। अर्थात् उद्गीथ गाकर उद्गीथ के देवता * से वर मांगेगा। यहां यजमान

* उद्गीथ का देवता परमात्मा है। छान्दोग्य (१। ८) में उद्गीथ में कुशल तीन ऋषियों का संवाद दिया है, जहां अन्त में जैवलि प्रवाहण ने इस बात को सिद्ध किया है, कि उद्गीथ आकाश है, वह आकाश जो सब से बड़ा, सब के लिये शरण लेने योग्य, रचने वाला और प्रलय करने वाला है। ऐसा आकाश परमात्मा ही है। "आकाशस्तल्लिंगात्" (ब्रह्मसूत्र १। १। २२) इस सूत्र में इस आकाश

देवता हैं, वे क्या वर चाहते हैं, वे चाहते हैं, कि परोपकार बढ़े, और स्वार्थ गिरे। उनको ऐसा उद्गाता चाहिये, जिसका जीवन परोपकारमय हो। क्योंकि यजमान के लिये उसी ऋत्विज् की प्रार्थना फल लाएगी, जो आप उसी रंग में रंगा हुआ है॥

इसलिये उन्होंने एकमति होकर वाणी को कहा, कि तुम हमारे लिये उद्गाता बनो, उसने स्वीकार किया, और जो कुछ उसने किया, दूसरों की भलाई के लिये किया। व्यवहार सारे वाणी से चलते हैं, पर फल उनका सारे इन्द्रियों को होता है, वाणी अकेली नहीं भोगती॥

जब मनुष्य अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझता है, और अपने प्रभु की आज्ञा मान कर करता है, तो कोई वस्तु उसको अपने कर्त्तव्य से नहीं गिरा सक्ती। और न वह उसमें लिप्त होता है। आज उसको प्रभु का आदेश होता है, कि तुम यह काम करो, वह उसमें लग जाता है, कल उसको दूसरा आदेश मिलता है, कि वह काम करो। वह झट उसी में लग जाता है। और यदि वह ऐसा नहीं समझता, और उस कर्त्तव्य के पालन में अपना इष्ट अनिष्ट सोचने लगता है, तो जिधर उसको स्वार्थ खींच ले जाता है, वह उधर मारे २ फिरता है। बस वाणी में यह दोष आगया, उसने अच्छा बोलने का फल तो सब देवों को दिया, पर उसने अच्छा बोलना अपना कर्त्तव्य नहीं समझा, उसको अपना यश बनालिया। ज्यूं ही यह स्वार्थ उसमें आया, असुरों ने झट उसको बुराई से जकड़ दिया। अब वह स्वार्थ के अधीन

का अर्थ ब्रह्म सिद्ध किया है। और छान्दोग्य के आरम्भ में भी उद्गीथ को 'ओ३म्' बतलाया है॥

झूट छल कपट द्रोह सब कुछ करने लगी । यदि वाणी अपना कर्त्तव्य समझ कर बोलती, तो वह उसके विरुद्ध न बोलती, जो उसके मालिक का आदेश था । पर वाणी ने ऐसा नहीं किया । फिर जो हाल वाणी का हुआ, वही बाकी सारे इन्द्रियों का हुआ । इस लिये वे सारे उद्गाता के काम में फेल हुए । अन्ततः एक देवता चुना गया, जो इस काम में पूरा निकला । देवताओं ने प्राण को उद्गाता के तौर पर चुन लिया । सचमुच यह बड़ा योग्य उद्गाता है । दिन रात अपने कर्त्तव्य में लगा है, सब इन्द्रिय सो जाएं, यह जागता है । रोग ग्रस्त होकर मनुष्य दिनों तक बेहोश रहे, यह अपना काम बराबर किये जाता है । यह अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझता है, क्या मजाल है, कि कभी उसमें चूक होजाए । इसका काम सबको जीवन देना है, यह सबका जीवन है और आप जीवनरूप है । असुरों ने तो इस पर भी हमला किया, पर यहां कोई स्वार्थ की रेखा न थी । जिसमें स्वार्थ का नाम नहीं, जो अपने मालिककी आज्ञा पर दृढ है, उसको असुर क्या बहकाएंगे । असुर इस पर हमला करके इस तरह नष्ट हुए, जैसे मट्टी का ढेला पत्थर को फोड़ने लगे, तो वह आप ही चूर २ हो जाए । इसप्रकार यह आख्यायिका बतलाती है, कि तुम इस जगत् में, इस तरह काम करो, जिस तरह शरीर में प्राण काम करता है । तुम प्राण का व्रत धारण करो, जो कभी अपने कर्त्तव्य में प्रमाद नहीं करता, उस वाणीका व्रत मत धारण करो, जिसको स्वार्थ अपने कर्त्तव्य से गिरा देता है । प्राण की न्याईं दूसरों के लिये जीवन बनो, न कि वाणीकी न्याईं दूसरों पर अपने जीवन

का निर्भर रक्खो। और इस तरह आसुरी वृत्तियों को जीतकर धर्म का राज्य फैलाओ *

इसके आगे प्राण के विषय में ही और कई एक पवित्र गुणों का उपदेश किया है, मनुष्य को चाहिये कि प्राण का व्रत धारण करता हुआ इन गुणों को भी धारण करे—

ते होचुः, क नु सोऽभूद्, यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसो अंगानाᳬहिरसः

उन्होंने (देवों ने) कहा, "कहां था वह, जिसने हमें इस प्रकार आलिङ्गन किया (गले लगाया)" (उन्होंने कहा) "यह मुख में अन्दर है" इसलिये वह प्राण अयास्य † (कहलाता) है और जिसलिये यह अंगोंका रस (सार) है, इसलिये आंगिरस है॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम, दूरᳬह्यस्या मृत्युः; दूरं

---

* यह आख्यायिका छान्दोग्य (१.२) में भी है। और इसी आख्यायिका के आधार पर एक बड़ा सुन्दर नाटक प्रबोधचन्द्रोदय रचा गया है। और इसका अनुवाद हिन्दी में भी हुआ है, जो गुरुमुखी अक्षरों में भी मिलता है॥

† "अयम् आस्ये" से 'अयास्य' बना है। अर्थ यह है। अयम्=यह आस्ये=मुंह में। इंद्रियों ने कहा, यह मुंह में है इसलिये प्राण का नाम अयास्य है। इसी प्रकार यह अंगों का रस है क्योंकि प्राणों के निकल जाने पर देह सूख जाता है, जैसा कि आगे (१९ खण्ड में) कहेंगे। इसलिये प्राण का नाम आंगिरस है। अर्थात् अंग+रस से आंगिरस बना है। इसी प्रकार आगे २ जो नाम दिये हैं, उन के विषय में भी जानना चाहिये। यहां अयास्य और आंगिरस आदि जो प्राण के नाम दिये हैं, यह उन २ ऋषियों के नाम पर हैं, जिन्होंने प्राणोपासना से अपने जीवन को प्राण के रंग में रंग दिया था॥

ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

वह देवता (प्राण) दूर नाम है । क्योंकि मृत्यु इस से दूर है । जो इस (रहस्य)को समझता है मृत्यु उससे दूर रहता है॥ ९ ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयां चकार,तदासां पाप्मनो विन्यदधात्, तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्यु मन्ववयानीति ॥ १० ॥

उस देवता (प्राण) ने इन देवताओं (इन्द्रियों) के पाप को—जो कि मृत्यु है—दूर हटाकर, जहां इन दिशाओं का किनारा है, वहां पहुंचा दिया, वहां इनके पापों को रख दिया । इसलिये चाहिये कि कोई पुरुष (उस) पुरुष (किनारे के रहने वाले) की तर्फ न जाए, न किनारे की तरफ जाए । (इस डर से कि) न हो कि पाप जो मृत्यु है उससे युक्त होजाऊं ॥ १० ॥

इस से प्रतीत होता है, कि उस समय जो लोग धर्म से पतित होजाते थे, उनको शहर से बाहर दूर रहने को जगह मिलती थी । और मनुष्य का जैसा कि स्वभाव है, वे सब आपस मे मिल कर रहते थे । उपनिषद् बतलाती है, कि मृत्यु मृत्यु नहीं, मृत्यु यही है,जो पाप में फंसना है । यदि तुम मृत्यु से बचना चाहते हो, तो तुम्हें चाहिये, कि जो लोग धर्म से पतित हैं, उनमें जाकर न मिलो, न उनके रहने की जगह पर रहो । ऐसा न हो, कि पाप जो उनके स्वभाव में है, वह तुम्हें भी लग जाए । सो तुम सदा उन्हीं की संगति में रहो, जो जितेन्द्रिय हैं । और उन्हीं के निवास में अपना निवास करो ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युम पहृत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥ ११ ॥

स वै वाचमेव प्रथमा मत्यवहत्, सा यदा मृत्यु मत्युमुच्यत सो ऽग्निरभवत् । सो अयमग्निः परेण मृत्यु मतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२ ॥

अब वह देवता इन देवताओं के पापरूपी मृत्यु को दूर हटाकर इनको मृत्यु से पार लंघाले गया ॥ ११ ॥ वह पहले पहले वाणी को ही लङ्घाले गया । जब वह मृत्यु से छूटगई, (आज़ाद होगई) तो यह अग्नि होगई ((जो कुछ कि पहले थी) । सो यह अग्नि मृत्यु से परे पहुंचा हुआ चमकता है ॥ १२ ॥

अथ प्राणमत्यवहत् । स यदा मृत्युमत्य मुच्यत, स वायुरभवत्, सोऽयं वायुःपरेण मृत्युमतिक्रान्तो पवते।

तब उसने प्राण को लङ्घाया। वह (प्राण=घ्राण) जब मृत्यु से मुक्त हुआ (आज़ाद हुआ), वह वायु होगया । वह वायु मृत्यु से परे पहुंचा हुआ बहता है ॥ १३ ॥

अथ चक्षुरत्यवहत् । तद् यदामृत्युमत्यमुच्यत, स आदित्योऽभवत् । सो ऽसावादित्यः परेण मृत्युम तिक्रान्तस्तपति ॥ १४ ॥

तब उसने नेत्र को लङ्घाया । वह जब मृत्यु से मुक्त हुआ,

तो वह आदित्य (सूर्य) होगया । सो वह आदित्य मृत्यु से परे पहुंचा हुआ तपता है ॥ १४ ॥

अथ श्रोत्र मत्यवहत्, तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत; ता दिशोऽभवंस्ताइमा दिशः परेण मृत्यु मतिक्रान्ताः।

तब उसने श्रोत्र (कान) को लङ्घाया । जब श्रोत्र मृत्यु से मुक्त हुआ, तो वह दिशाएं हो गया । वे यह दिशाएं हैं, मृत्यु से परे पहुंची हुई ॥ १५ ॥

अथ मनो ऽत्यवहत् । तद् यदा मृत्युमत्यमुच्यत, स चन्द्रमा अभवत, सो ऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भाति,एवꣳ हवा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति, य एवं वेद ॥ १६ ॥

तब वह मन को लङ्घा लेगया । जब मन मृत्यु से मुक्त हुआ,तो वह चन्द्रमा हो गया । सो वह चन्द्रमा मृत्यु से परे पहुंचा हुआ चमकता है । जो इस (रहस्य) को जान लेता है,यह देवता(प्राण) निस्सन्देह इसी प्रकार उस को भी मृत्यु से पार ले जाता है * ॥

इन का आशय यह है, कि मृत्यु यही है, कि वह वस्तुएं जो अपने तत्त्व से अलग होकर अपना भिन्न नाम रूप रखती हैं, (जैसे सोने के कुण्डल सोने की डली से अलग रूप (शकल) और अलग नाम रखते हैं)। उनका मृत्यु यही है कि वे अपने

---

* इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो पाप उत्पन्न होता है, वह पुरुष उस पाप में नहीं फंसता, जो यह जान लेता है, कि जैसे आग हाथ को जला देती है, निःसन्देह इसी प्रकार इन्द्रियों के पाप इन्द्रियों को मृत्यु की ओर ले जाते हैं ॥

बनावटी नाम रूप को छोड़ देती हैं। पर असल तत्त्व में कोई भेद नहीं आता। क्योंकि यह उस अवस्था में, जब इनके नाम रूप अलग हैं, तब भी वही तत्त्व हैं। अन्त में भी वही तत्त्व रहेंगे। उन के तत्त्व में कुछ भेद नहीं आएगा, इसलिये मृत्यु केवल अवस्था बदलने का नाम है। इसी प्रकार इन्द्रियों के लिये भी कोई मृत्यु नहीं है, वे जिन तत्त्वों से अलग हुई हैं, अब भी उन्हीं का रूप हैं, और फिर भी उन्हीं का रूप बनकर रहेंगी। उनके लिये कोई मृत्यु नहीं, सिवाय इसके, कि ये पाप में फंसें। यदि इनको इस मृत्यु से बचा लिया जाए, तो ये मरेंगी नहीं, बल्कि अपने असली रूप को धारण करके चमकेंगी। और वह असली रूप वाणी का अग्नि है, सांस का वायु, नेत्र का आदित्य, श्रोत्र का दिशाएं और मन का चन्द्रमा है। और इसी लिये विराट् के वर्णन में इन पदार्थों को इन्द्रियों का रूप वर्णन किया है (देखो ऋ० १०। ९०। १३–१४)

संगति—अब जब प्राण असुरों के घात से बचा रहा और उसने दूसरे देवताओं (इन्द्रियों) को भी बचालिया, तो वह उद्गीथ गाने लगा—

अथाऽऽत्मनेऽन्नाद्यमागायद् । यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

तब (प्राण ने) अपने लिये खाने योग्य खुराक (अन्न) को गाया। क्योंकि जो कुछ खुराक खाई जाती है, केवल प्राण से ही वह खाई जाती है, और यहां (देहमें) वह ठहरता है॥ (अर्थात् प्राण ने वाणी आदि की नाईं अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये कुछ नहीं किया, किन्तु उसने जो कुछ अपने लिये किया (खुराक

को अपने लिये बनाया) यह इसलिये किया, कि वह इस शरीर में रह सके और इसतरह पर वह बाकी इन्द्रियों को जीवन देसके॥

ते देवा अब्रुवन् "एतावद्वा इदꣳसर्वं यदन्नं, तदात्मन आगासीः,अनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्व"इति'ते वै माऽभिसंविशत"इति "तथेति" तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त,तस्माद् यदनेनाऽन्नमत्ति, तेनैतास्तृप्यन्ति। एनꣳस्वा अभिसंविशन्ति, भर्ता स्वानाꣳश्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद। य उ हैवंविदꣳ स्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूषति, न हैवालं भार्य्येभ्यो भवति । अथ य एवैतमनु भवति, योवैतमनु भार्यान्नुबुभूर्षति, स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥ १८ ॥

वह देवता बोले, "इतना ही तो यह सब है, जो कि अन्न है (अर्थात् अन्न ही दुनिया में सब से बड़ी चीज़ है, जिस के सहारे जीवन है) उसको तूने अपने लिये गाया है (=गाकर अपने लिये लाभ किया है) हमें भी इस अन्न में हिस्सा दो" । उसने कहा) "तुम सारे मुझ में प्रवेश कर जाओ"(उन्होंने कहा) " बहुत अच्छा" और वे उसमें चारों ओर प्रवेश करगए । इसलिये (मनुष्य) जब प्राण से अन्न खाता है, तो उस (अन्न) से यह (देवता सारे इन्द्रिय) तृप्त होते हैं । जो इस प्रकार (इस रहस्य) को जानता है, इसी प्रकार अपनी ज्ञाति (कौम) के लोग उस के पास आते हैं (अपनी जीविका के लिये, जैसे कि प्राण

के पास इन्द्रिय अपने जीवन के लिये, आए) और वह (पास आए) अपने लोगों का पालने वाला होता है (जैसे प्राण इन्द्रियों का पालने वाला है) वह (अपने लोगों का) सब से उत्तम आगे चलने वाला (लीडर=नेता) होता है (जैसे प्राण इन्द्रियों का है) । वह बड़ा दृढ़ * (मज़बूत) मालिक होता है । और जो अपने लोगों में से इस (रहस्य) के जानने वाले के रस्ते में रुकावट डालता है † वह कभी भी अपनों को पुष्ट करने के योग्य नहीं होता (अर्थात् और कोई भी पुरुष इसके बराबर अपनी ज्ञाति का सहायक नहीं बन सक्ता) । पर वह जो इसके पीछे लगता है (अनुयायी बन जाता है) या जो इसके पीछे लगकर पालन पोषण करने योग्यों का पालन पोषण करना चाहता है, वही पालने योग्यों (अपनी ज्ञाति के लोगों) के लिये योग्य होता है ॥

सोऽयास्य आंगिरसोऽङ्गानाᳩहि रसः । प्राणो वा अंगानाᳩरसः, प्राणो हि वा अंगानाᳩरस स्तस्माद् यस्मात् कस्माच्चांगात प्राण उत्क्रामति, तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अंगानाᳩरसः ॥ १९ ॥

वह अयास्य आंगिरस (कहलाता) है, क्योंकि वह अंगों का रस है । प्राण अंगों का रस है । प्राण जिस लिये अंगों का रस है, इसीलिये जिस किसी अङ्ग से प्राण निकल जाता है,

* अन्नादः का अर्थ है अन्न खाने वाला अर्थात् रोगों से बचा हुआ=मज़बूत ॥

† अक्षरार्थ यह है, कि मुकाबिला करने वाला बनना चाहता है

वहीं वह सूख जाता है, (नीरस होजाता है) क्योंकि यह अङ्गों का रस है ॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद्बृहस्पतिः ॥ २० ॥

यही बृहस्पति भी है, क्योंकि वाणी बृहती (ऋचाएं है) और यह उसका पति है, इसलिये बृहस्पति है ॥२०॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्माद्ब्रह्मणस्पतिः ॥२१॥

यही ब्रह्मणस्पति भी है, क्योंकि वाणी ब्रह्म है (यजु) है, उसका यह पति है, इसलिये ब्रह्मणस्पति है ॥२१॥

यहां बृहती को भी वाणी और ब्रह्म को भी वाणी ही कहा है, तथापि आगे प्राण को साम कहा है, इसलिये यहां बृहती से ऋचाएं और ब्रह्म से यजु ही लेना चाहिये । यदि यह तात्पर्य्य न हो,तो बृहस्पति भी वाणी का पति और ब्रह्मणस्पति भी वाणी का पति इन दोनों में कुछ भेद नहीं रहता । केवल प्राण के बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति ये दो नाम बतलाने में तात्पर्य्य नहीं, किन्तु दोनों नामों द्वारा दो भिन्न २ धर्म दिखलाने में तात्पर्य है । सो इन दोनों नामों से ऋचा और यजु का उच्चारण प्राण के अधीन बतलाया है । और जगह भी ऋचा, यजु, साम और उद्गीथ इसी क्रम से आते हैं, इसलिये यहां बृहती से ऋचा और ब्रह्म से यजु ही अभिमेत हैं ॥

एष उ एव साम । वाग्वै साऽमैष साचामश्चेति

तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव साम । अश्नुते साम्नः सायुज्यꣳसलोकतां य एवमेतत् साम वेद ॥ २२ ॥

यही (प्राणही) साम भी है । वाणी 'सा' है और यह (प्राण) 'अम' है । 'सा' और 'अम' (ये दोनों मिलकर 'साम' है) यह साम का सामपन है * अथवा जिस लिये (प्राण) घुण के सम (बराबर) है । मच्छर के सम है, हाथी के सम है, इन तीनों लोकों के सम है, इस सब के सम है, इसीलिये साम है। जो इस साम को जानता है, वह साम (प्राण) के सायुज्य और सालोक्य को भोगता है ॥ २२ ॥

प्राण जीवन है, जहां प्राण है, वहां जीवन है, जहां जीवन है, वहां प्राण है । प्राण उस सब के बराबर है, जिस में जीवन है, इसलिये वह एक छोटे से छोटे प्राणधारी के बराबर है और बड़े से बड़े प्राणधारी के बराबर है । ब्रह्म की सारी सृष्टि में उसकी प्रजा निवास करती है, वह सारी जीवन से भर रही है, इसलिये प्राण इस सारी सृष्टि के बराबर है ॥

सम के अर्थ हैं बराबर और 'सम' से साम बनकर साम प्राण का नाम है । जो प्राण के इस गुण को जानता है, वह प्राण के

---

* अर्थात् प्राण को साम इसलिये कहते हैं कि 'सा' वाणी और 'अम' प्राण है । प्राण वाणी का पति है, क्योंकि प्राण के अधीन वाणी बोलती है, और यह भी, कि भिन्न २ स्थानों में प्राण (वायु) की टक्कर से ही भिन्न २ अक्षर बनते हैं ॥

सायुज्य और सलोकता को भोगता है। सायुज्य=ज्यादा मेल, एकता। अर्थात् इस रहस्य को जानने वाला प्राण के साथ इस तरह एक हो जाता है, कि जैसे प्राण सब का जीवन देने वाला है, इसी प्रकार वह सब के लिये असली जीवन का देने वाला बन जाता है। और सलोकता का अर्थ है, एक लोक में रहना। अर्थात् जैसे प्राण जीती जागती दुनियां में रहता है। इसी प्रकार इस रहस्य को पाने वाला भी जीती जागती दुनिया में निवास करता है। वह जिन में रहता है, उनको जीता जागता बना देता है और जीते जागतों में रहता है।

एष उ वा उद्गीथः, प्राणो वा उत्प्राणेन हीदꣳसर्वमुत्तब्धं वागेव गीथा। उच्च गीथा चेति स उद्गीथः॥२३

यह (प्राण) उद्गीथ भी है। निःसन्देह प्राण'उत्' है क्योंकि प्राण से ही यह सब कुछ थमा हुआ है। और वाणी ही 'गीथा' (गीत) है। 'उत्' और 'गीथा' यही (दोनों मिलकर) उद्गीथ है (वाणी प्राण के अधीन है, इसलिये प्राण उद्गीथ है क्योंकि उत् प्राण है और गीथा वाणी है) ॥ २३ ॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाच "अयं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य अंगिरसोऽन्येनोदगायद्" इति। वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥ २४ ॥

इस (विषय) में चैकितानेय (चिकितान के पोते) ब्रह्मदत्त ने सोम पान करते हुए कहा था, कि " यह सोम (राजा)

उसके सिरको गिरादे, यदि अयास्य आंगिरस ने इस (प्राण) से बिना किसी दूसरे से (उद्गीथ) गाया है" क्योंकि उस ने वाणी से और प्राण से ही गाया था ॥ २४ ॥

पिछले चार खण्डों में यज्ञके योग्य वाणी के प्रसिद्ध चारों भेद अर्थात् ऋचा, यजु, साम और उद्गीथ, का रूप प्राण को वर्णन किया है। और वास्तव में ऋचा, यजु, साम और उद्गीथ इनका केवल उच्चारण ही प्राण के अधीन नहीं, किन्तु ये उच्च जीवन के देने वाले भी हैं। जो धर्म प्राण का है,वह धर्म इनका है, इसलिये प्राण ही ऋचा, प्राण ही यजु, प्राण ही साम और प्राण ही उद्गीथ है। इन चारों खण्डों में प्राण को जो नाम दिये हैं, उनमें वाणी का सम्बन्ध साथ पाया जाता है। इस २४वें खण्ड में इसी बात को ब्रह्मदत्त के वचन से सिद्ध किया है।

यह खण्ड किसी प्रसिद्ध विवाद की तर्फ इशारा करता है, जो विवाद किसी सोमयज्ञ में ब्रह्मदत्त उद्गाता के साथ दूसरे लोगों का हुआ। ब्रह्मदत्त ने यह शपथ की कि यदि अयास्य आंगिरस (मैं) ने प्राण के सिवाय किसी दूसरे से गाया हो, तो मेरे लिये सोम पान का फल अमर होना नहो, किन्तु उलटा मृत्यु हो। सोम का फल अमर होना है, यह **"अपामसोमममृता अभूम"** (ऋग्० ८।४८।३) "हमने सोम पिया और अमर होगए हैं" में दिखलाया है ॥

यहां ब्रह्मदत्त ने अपने आपको अयास्य आंगिरस प्राण की समता के कारण कहा है। १।२।१९ में प्राण को अयास्य आंगिरस कह आए हैं ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद, भवति हास्य स्वं। तस्य वै स्वर एव स्वं, तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन् वाचि स्वर मिच्छेत्, तया वाचा स्वरसम्पन्नयाऽर्त्विज्यं कुर्यात् । तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्ते एव, अथो यस्य स्वं भवति । भवति हास्य स्वं,य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५ ॥

जो उस इस * साम के धन (मल्कीयत) को जानता है, उसके पास धन होता है, निःसन्देह स्वर ही इस साम का धन है, इसलिये जो (उद्गाता=साम गाने वाला बन कर) ऋत्विज् का काम करना चाहता है, उसको अपनी वाणी में अच्छे स्वर की इच्छा करनी चाहिये । (फिर) वह उस वाणी से—जो स्वर की सम्पदा वाली है, ऋत्विज् का काम करने की इच्छा करे । यही कारण है, कि यज्ञ में लोग उसको अवश्य देखना चाहते हैं, जिसका अच्छा स्वर होता है, जैसा (उसको देखना चाहते हैं) जिस के पास धन होता है । निःसन्देह उसके पास धन होता है जो साम के इस धन को जानता है ॥ २५ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद, भवति हास्य

---

* उस इस, ये दोनों इकट्ठे बोले हुए शब्द उसकी ओर इशारा करते हैं, जिसके विषय में पहिले भी कुछ कह चुके हों और आगे फिर कहना हो। जैसे यहां सामगान का प्रसङ्ग आरहा है, और आगे फिर भी सामगान के विषय में ही शुद्ध और सुन्दर उच्चारण की रीति बतलाई है ॥

सुवर्णम्। तस्य वै स्वर एव सुवर्णं,भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥२६॥

जो उस इस साम के सुवर्ण (सोने) को जानता है, निःसन्देह उसके पास सोना होता है। स्वर ही उसका सुवर्ण है। उसके पास सुवर्ण होता है, जो साम के इस सुवर्ण को जानता है * ॥२६॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद, प्रतिह तिष्ठति। तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा, वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयते 'अन्न' इत्यु हैक आहुः ॥२७॥

जो उस इस साम की प्रतिष्ठा (सहारे) को जानता है, वह निःसन्देह प्रतिष्ठित होता है। वाणी ही उसकी प्रतिष्ठा है, क्योंकि वाणी में ही यह प्राण प्रतिष्ठित हुआ (सहारा पाया हुआ) गाया जाता है, कई कहते हैं कि अन्न में * (प्रतिष्ठित हुआ गाया जाता है) ॥ २७ ॥

---

* पहले खण्ड में स्वर को धन और इस खण्ड में स्वर को सुवर्ण कहा है। पर इन दोनों में कुछ भेद है। खाली स्वर की मिठास साम का धन है और वर्णों (अक्षरों) के सुन्दर उच्चारण की मिठास सुवर्ण है। पहले कण्ठ की मिठास का प्रतिपादन है। और अब वर्णों के सौन्दर्य्य का ॥

* सामगान की जड़ वाणी है, प्राण वाणी में आकर स्वर का रूप धारण करता है, इस प्रकार गाना प्राण का ही रूप है, और वाणी उसकी जड है। दूसरा सिद्धान्त यह है,कि अन्न उसकी जड है। शुद्ध और सात्विक अन्न के सेवन से स्वर में मधुरता और अन्तःकरण में पवित्रता आती है और पवित्र अन्तःकरण से की हुई

संगति—पहले बतला आए हैं, कि उद्गाता ऐसा होना चाहिये, जो प्राण के सदृश धर्मों वाला हो। और २४, २५, २६, २७, खण्डों में यह बतलाया है, कि उसका स्वर मीठा हो, वर्ण स्पष्ट और सुन्दर हों, और वे वर्ण अपने २ स्थान और प्रयत्न से सहारा दिये गए हों। अब इसके आगे उद्गाता के लिये सामः गान से पहले एक जप बतलाते हैं, उसके पीछे उद्गाता को साम गाना चाहिये, तब वह अपने वा यजमान के लिये जो आशा गाएगा, वह सफल होगी—

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः । स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति, स यत्र प्रस्तुयात्, तदेतानि जपेत् । "असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति"। स यदाहाऽसतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत् सदमृतं, मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं माकुर्वित्येवैतदाह । तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं, मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह । मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्रतिरोहितमिवास्ति । अथ यानीतराणि स्तोत्राणि, तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्, तस्मादु तेषु वरं वृणीत, यं कामं कामयेत, तम् । स एष एवंविदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते, तमागायति । तद्धैतल्लोकजिदेव, न हैवालोक्यताया आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद ॥ २८ ॥

ब्राह्मण. अब यहां से पवमान मन्त्रों का अभ्यारोह है। प्रस्तोता ऋत्विज् साम आरम्भ करता है। जब वह आरम्भ करे, तब इन (यजु मन्त्रों) का जप करे *:—

असत् (मिथ्या) से मुझे सत् की ओर लेजा। अन्धकार से मुझे ज्योति की ओर लेजा। मृत्यु से मुझे अमृत की ओर लेजा।

जो वह यह कहता है, कि असत् से मुझे सत् की ओर लेजा। असत् सचमुच मृत्यु है और सत् अमृत है। इसलिये वह यही कहता है,कि मृत्यु से मुझे अमृत की ओर लेजा,मुझे अमृत बना।

और जो वह यह कहता है, कि "अन्धकार से मुझे ज्योति की ओर लेजा" अन्धकार सचमुच मृत्यु है और ज्योति अमृत है। इसलिये वह यही कहता है, कि मृत्यु से मुझे अमृत की ओर लेजा। मुझे अमृत बना † ॥

---

* (१) असतो मा सद्गमय (२) तमसोमाज्योतिर्गमय (३) मृत्योर्माऽमृतं गमय। यह तीन यजु हैं। उद्गाता, उद्गीथ गाने से पहले इनका जप करता है, यह जप उस समय करना चाहिये, जब प्रस्तोता ऋत्विज् साम गाना आरम्भ करता है। इस जप का नाम अभ्यारोह (चढ़ना) है, क्योंकि इस जप से उद्गाता निचले जीवन से ऊपर चढ़ता है॥

† झूठ और अज्ञान ये दोनों मृत्यु हैं, सचाई और ज्ञान ये दोनों अमृत हैं। मृत्यु से बचकर वह अमृत बन जाता है, जो झूठ और अज्ञान से बचकर सचाई और ज्ञान का रस्ता लेता है॥ स्वाभाविक कर्म और ज्ञान असत् हैं और शास्त्रीय कर्मज्ञान सत् हैं, असत् से मुझे सत् की ओर लेजा, इसका यह अभिप्राय है, कि स्वाभाविक कर्म ज्ञान से मुझे निकाल कर शास्त्रीय कर्मज्ञान की ओर लेजा।

(और जो वह यह कहता है) मृत्यु से मुझे अमृत की ओर लेजा, इस में कुछ छिपा हुआ नहीं है *॥

अब जो दूसरे स्तोत्र हैं, उन में उद्गाता अपने लिये खाने योग्य अन्न को गाए। इसलिये उन में जो कामना चाहे मांगे॥

वह उद्गाता जो इस विद्या का रहस्य जानता है, वह अपने लिये वा यजमान के लिये जो कामना चाहता है गाता है (गाने से पूरा करता है)। सो यह (विद्या) निःसन्देह लोक के जीतने वाली है, जो इस प्रकार साम को जानता है। उस को यह आशा (डर) नहीं है, कि वह लोक के योग्य नहीं होगा (किन्तु उसके लोक परलोक दोनों सुधरेंगे) ॥२८॥

तीन पवमान स्तोत्रों में यजमान के लिये वर मांगकर शेष नौ स्तोत्रों में अपने लिये जो वर चाहे मांगे॥

इस जपका विधान श्रौतसूत्रों में नहीं पाया जाता, श्रौत सूत्रों में यज्ञ का विधान है, पर उसके रहस्य आरण्यक और उपनिषदों में वर्णन हुए है। उन रहस्यों के जाने विना भी यज्ञ

स्वाभाविक कर्म विज्ञान प्रकृति में बांधे रखने वाले हैं। इसलिये वह मृत्यु हैं और शास्त्रीयकर्म और विज्ञान बचाने वाले हैं, इस लिये वे अमृत हैं। फिर अन्धकार से मुझे ज्योति की ओर लेजा। इस का अभिप्राय यह है, कि अज्ञान से बचाकर मुझे ज्ञान प्राप्त करा (शङ्कराचार्य)॥

* पहले दो मन्त्रों में जैसे व्याख्या की आवश्यकता थी वैसे इस मन्त्र में नहीं, क्योंकि इसका अर्थ स्फुट है, कोई बात इस में छिपी हुई नहीं है॥

फलवान् है, पर उसका असली फल तभी होता है, जब यजमान और ऋत्विज् यज्ञ की उपनिषद् के जानने वाले हों। यहां यह रहस्य बोधन किया है, कि उद्गाता का जीवन प्राण की नाईं पापों से बचा हुआ और परहितसाधन में तत्पर हो। और वह उद्गीथ गाने से पहले उपरोक्त जप करे। इस प्रकार यदि वह अपने जीवन को उच्च अवस्था में रखकर उद्गीथ गाएगा, तो वह उद्गीथ में अपने लिये वा यजमान के लिये जो वर मांगेगा पाएगा। और इस रहस्य को जो जानेगा (उपासेगा) उसी के लोक परलोक दोनों सुधरेंगे॥

चौथा ब्राह्मण * (पुरुषविध ब्राह्मण)

संगति—विराट्पुरुष से व्यष्टि सृष्टि का वर्णनः—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः, सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्। सोऽहमस्मीत्यग्रेव्याहरत्, ततोऽहं नामाभवत्। तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते, यदस्य भवति। स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत्, तस्मात्

* इस ब्राह्मण का नाम पुरुषविध ब्राह्मण है, क्योंकि इस में विराट् का वर्णन है, और विराट् को पुरुष के आकार में वर्णन किया जाता है (देखो-वेदोपदेश ७१-८५) यहां उसके धर्म भी पुरुष की नाईं वर्णन करेंगे, जैसाकि 'मैं' उसका नाम है, उसे अपने आपको अकेला देखकर भय हुआ, अकेला समझकर अरति हुई इत्यादि॥

पुरुषः। ओषति ह वै स तं, योऽस्मात् पूर्वो बुभूषति, य एवं वेद ॥ १ ॥

आरम्भ में यह केवल आत्मा ही था—वह पुरुष की नाईं (था) उस ने अपने चारों ओर देखकर अपने सिवाय कुछ नहीं देखा। उस ने "मैं हूं" पहले यह कहा, इसलिये उसका नाम मैं हुआ। इसीलिये अब भी यदि किसी पुरुष को पूछते हैं, तो वह 'यह मैं' पहले कहकर आगे दूसरा नाम बोलता है, जो उसका (नाम) होता है *। और जिस लिये इस सब से पहले (पूर्व) उस ने सब बुराइयों को जला डाला, इसलिये वह पुरुष † (हुआ) जो इस रहस्य को जानता है, निःसन्देह वह उसको जलाता है, जो इससे पहले (आगे) होना चाहता है ॥ १ ॥

---

* विराट् पुरुष है, उसने अपने आपको 'मैं' समझा, इसलिये मैं (अहं) उसका नाम है, और जिस तरह उस आदि पुरुष ने अपने आपको मैं कहा, इसी तरह यह पुरुष भी अपने आपको मैं कहते हैं। क्योंकि विराट् सब का पिता है, उसका नाम उसकी सारी वंश में होना चाहिये। वसिष्ठ के वंशधर वसिष्ठ कहलाते हैं, मैं के पुत्र मैं होने चाहियें। हम सब विराट् के पुत्र हैं, इसलिये 'मैं' हम सब का गोत्र नाम है ॥

† पूर्व=पहले। उष्=जलाना। जिस लिये विराट् ने सारी बुराइयों को पहिले ही जला डाला इसलिये उसका नाम पूर्व, उष्= पुरुष है। अगर कोई पुरुष इस रहस्य को जानले, कि जिस तरह सब बुराइयों के जला डालने से विराट् पुरुष है, इसी प्रकार हम भी सारी बुराइयों को जलाकर पुरुष बन सके हैं, तो फिर दुनियां में उस से कोई आगे नहीं बढ़ सकेगा ॥

सोऽबिभेत्, तस्मादेकाकी बिभेति। सहायमीक्षां चक्रे, "यन्मदन्यन्नास्ति, कस्मान्नु बिभेमीति"? तत एवास्य भयं वीयाय। कस्माद्ध्यभेष्यद् ? द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥ २ ॥

वह डरा, इसलिये (हर एक) अकेला डरता है। उस ने ख्याल किया कि मेरे सिवाय (कुछ) नहीं है, मैं क्यों डरता हूं? उसी से इसका भय जाता रहा। वह किस से डरता? डर सचमुच दूसरे से होता है ॥ २ ॥

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास, यथास्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। "तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्वः" इति हस्माह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव। तां समभवत्, ततो मनुष्या अजायन्त ॥ ३ ॥

पर वह खुश नहीं हुआ। इसलिये (कोई पुरुष) अकेला खुश नहीं होता है। उस ने दूसरे की इच्छा की। वह इतना बड़ा था, जितना कि दोनों इकट्ठे हुए स्त्री पुरुष होते हैं। उसने अपने इस ही शरीर (विराट् देह) को दो प्रकार से गिराया (विभक्त किया) उस से पति और पत्नी हुए*। इसलिये याज्ञ-

* पति=नर और पत्नी=मादा। यहां इन दोनों शब्दों में मूल

वल्क्य ने कहा "हम दोनों (में से हर एक) सीप के आधे दल †की नाईं हैं" इसलिये यह खुला(आकाश) स्त्री से ही पूर्ण किया जाता है (जैसे सीप के दोनों दल मिलाकर)। वह (विराट्) उस (पत्नी) के साथ संगत हुआ, तब मनुष्य उत्पन्न हुए ॥३॥

यद्यपि भय का कारण दूसरा नहीं था, पर पुरुष अकेला खुशी भी अनुभव नहीं कर सक्ता। इसलिये विराट् पुरुष को भी अपने जोड़े की इच्छा हुई। जितने प्रकार की सृष्टि है, नर नारी का भेद सब में पाया जाता है, वह भेद विराट् देह में प्रगट हुआ, इसलिये विराट् का आधा देह नर और आधा नारी बना अर्थात् नर मादा का भेद उसमें प्रगट हुआ, उसी नर मादे के संयोग से छोटे पोदे से लेकर मनुष्य पर्यन्त सब प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई

सो हेयमीक्षां चक्रे, कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा संभवति ? हन्त तिरोऽसानीति, सा गौरभवद्, ऋषभः इतरः तां समेवाभवत्, ततो गावोऽजायन्त। वडवेतराऽभवद्, अश्ववृष इतरः, गर्दभीतरा, गर्दभ इतरः। तां समेवाभवत्, तत एक शफमजायत। अजेतराऽभवत्, बस्त इतरः, अविरितरा, मेष इतरः,

---

'पत्=गिरना, बतलाया है' "उसने अपने इस ही शरीर को दोप्रकार से गिराया (पातयत्) उससे पति और पत्नी (येनाम) हुए ॥

† युगलं, किसी वस्तु के दो आधे टुकड़ों में से हर एक का नाम है जैसे एक सीप के दो अलग २ दल होते हैं वा एक चणे के दाने के दो अलग २ दल हैं, इसी प्रकार ये पुरुष स्त्री एक पूर्ण वस्तु के दो अलग २ दल हैं ॥

तां समेवाभवत, ततोऽजावयोऽजायन्त । एवमेव यदिदं किंच मिथुन मा पिपीलिकाभ्यः,तत्सर्वमसृजत४

उस (स्त्री) ने ख्याल किया, "कैसे वह मुझे अपने से ही जन्म देकर सङ्गत होता है ? हा ! मैं छिपजाऊं" ॥

(तब) वह गौ बनगई, दूसरा सांड (बन गया) और उसके साथ सङ्गत हुआ, उससे गाएं उत्पन्न हुईं । वह * घोड़ी बनगई,दूसरा घोड़ा (बनगया),वह गधी बनगई दूसरा गधा बन गया और उस (उस) के साथ सङ्गत हुआ, तब एक खुर वाला (जिनके खुर बीच में से फटे हुए नहीं होते (गधा, घोड़ा, खच्चर) उत्पन्न हुआ । तब वह बकरी बनगई, दूसरा बकरा बनगया. वह भेड़ बनी । दूसरा मेढ़ा बनगया, वह उस (उस) के साथ सङ्गत हुआ, तब भेड़ बकरियें उत्पन्न हुईं । इसी प्रकार छोटी चिउंटियों तक जो कोई जोड़ा है, उस सब को उसने रचा ॥ ४ ॥

विराट् देह में नर नारी का भेद दिखलाकर यह सिद्ध किया है, कि जो भाग नारी था, वह गौ आदि भिन्न २ नारी स्वरूपों में प्रगट होता गया, और जो भाग नर था, वह सांड आदि भिन्न२ रूपों में प्रगट होता गया, इस प्रकार आदि सृष्टि हुई । यह कोई ऐतिहासिक इतिवृत्त नहीं, आदि सृष्टि को एक रोचक अलङ्कार में वर्णन किया है ॥

यहां मनुष्य और पशुओं की सृष्टि जिस क्रम से बतलाई

* इतर, शब्द का अर्थ दूसरा है, नर और मादा दोनों में से नर की अपेक्षा से मादा दूसरी है और मादा की अपेक्षा से नर दूसरा है । पर भाषा में दोनों जगह दूसरा शब्द ठीक नहीं प्रतीत होता इसलिये इतरा के अर्थ यह पद लिखा है ॥

है, उस क्रम के वर्णन में तात्पर्य नहीं, इसीलिये यहां मनुष्यों की सृष्टि पहले दिखलाई है, और पशुओं की पीछे। पर ऐतरेयोपनिषद् में पहले पशुओं की और फिर मनुष्यों की सृष्टि दिखलाई है।

सोऽवेद् 'अहं वाव सृष्टिरस्मि, अहꣳहीदꣳसर्वमसृक्षि' इति, ततः सृष्टिरभवत्, सृष्ट्याꣳहास्यैतस्यां भवति, य एवं वेद ॥ ५ ॥

उस (विराट्) ने जाना, 'मैं निःसन्देह सृष्टि हूं, क्योंकि मैंने इस सब को रचा है' तब वह सृष्टि होगया। जो इस (रहस्य) को जानता है, वह उसकी इस सृष्टि में होता है (जीता है) ॥५॥

अथेत्यभ्यमन्थत् । स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत । तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः । तद् यदिदमाहुः 'अमुं यजामुं यज' इत्येकैकं देवम्, एतस्यैव सा विसृष्टिः एष उह्येव सर्वे देवाः । अथ यत्किञ्चेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत, तदु सोमः । एतावद्वा इदꣳसर्वमन्नं चैवान्नादश्च । सोम एवान्नम्, अग्निरन्नादः । सैषा ब्रह्मणोऽति सृष्टिः, यच्छ्रेयसो देवानसृजत अथयन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत । तस्मादतिसृष्टिः। अतिसृष्ट्याꣳहास्यैतस्यां भवति, य एवं वेद ॥६॥

उसने इस प्रकार मथन किया (मथन करके अग्नि को निकाला)। उस ने मुख से—(अग्नि के) स्थान से और हाथों से

अग्नि को उत्पन्न किया * । इसलिये ये दोनों (मुंह और हाथ) अन्दर की तर्फ से बिना लोमों के हैं, क्योंकि अग्नि का स्थान अन्दर से बिना रोमों के ॥

और जो यह कहते हैं "उसकी पूजा करो, उसकी पूजा करो" इस प्रकार एक २ देवता की । इसी † का वह भिन्न २ प्रकाश (ज़हूर) है, क्योंकि यही सारे देवता है ॥

अब जो कुछ यह आर्द्र (रसवाली वस्तु) है, उसको उसने बीज से उत्पन्न किया और वह सोम है । बस इतना ही है यह सब कुछ, या तो अन्न है, या अन्न को खाने वाला है । सोम ही अन्न है और अग्नि अन्न का खाने वाला है,‡ । सो यह ब्रह्म की ऊंची सृष्टि है, जो उसने उत्तम हिस्से से देवताओं को रचा §

* सृष्टिरचना को प्रायः यज्ञ के रूप में वर्णन कियागया है । यज्ञ के लिये जब अग्नि निकालते हैं, तो दो अरणियां लेकर, एक अरणि को नीचे रखते हैं, उसको अधराणि कहते हैं, दूसरी ऊपर खड़ी रखते हैं उसको उत्तराणि कहते हैं । अधरारणि के जिस स्थान में उत्तरारणि को रगड़कर अग्नि उत्पन्न की जाती है, उसे योनि कहते हैं । यहां मुख को योनि कहा है "मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च" (ऋग् १०।९०) अर्थात् मुख से फूंका और हाथों से मथन किया ॥

† अग्नि उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, उसी का प्रकाशक है, इसी प्रकार दूसरे देवता भी उसीके प्रकाशक हैं, इसलिये यज्ञों में जो अग्नि इन्द्र आदि भिन्न २ देवताओं की पूजा पाई जाती है, वह वास्तव में उसी एक ब्रह्म की पूजा है ॥

‡ सोमयज्ञों में अग्नि के अन्दर सोमरस की आहुति दीजाती है । यह सोमयज्ञ ब्रह्माण्ड में इस प्रकार होरहा है, कि यह विश्व अग्निषोमात्मक है—इसमें जो रसवाली भोग्य वस्तु है वह सब सोम का रूप है और खाने वाला अग्नि है । वैश्वानर अग्नि ही सब वस्तुओं का भोक्ता है ॥ § अथवा उसने सबसे उत्तम देवताओं को रचा ॥

और जो उसने मर्त्य होकर अमृतों को रचा *। इसलिये वह अतिसृष्टि है। और वह जो इस (रहस्य) को जान लेता है, वह उसकी इस ऊंची सृष्टि में होता है, (जीता है) ॥ ६ ॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् । तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत,—असौनामायमिदꣳरूप इति । तदिद-मप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते, असौनामा-यमिदꣳरूप इति। स एष इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः, यथाक्षुरःक्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्व-म्भरकुलाये। तं न पश्यन्ति, अकृत्स्नो हि सः, प्राणन्नेव-प्राणो नाम भवति; वदन् वाक्; पश्यँश्चक्षुः, शृण्वञ्छ्रोत्रं; मन्वानो मनः; तस्यैतानि कर्मनामान्येव । स योऽत एकैक मुपास्ते, न स वेद, अकृत्स्नोह्येषोऽत एकैके-न भवति । आत्मेत्येवोपासीत, अत्र ह्येते सर्व एकं-

* "मर्त्यः सन्नमृतानसृजत" जिस रीति से ये शब्द पढे गए हैं, इनका यही अर्थ होसक्ता है, कि मरने वाला होकर न मरने वालों (अर्थात् देवताओं) को रचा । पर अभिप्राय समझ में नहीं आया । सम्भवतः यह प्रतीत होता है, कि यहां विराट् का वर्णन है और विराट् को पुरुष वर्णन किया है, इसलिये उसको मर्त्य, मनुष्य के अर्थ में कहा है" श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजी लिखते हैं, कि मरने वाला हो कर न मरने वालों को उत्पन्न किया, यह वचन इस अभिप्राय से है, कि जिस मर्त्य ने पहले कल्प में यजमान बनकर प्रजापति के लिये यज्ञ किया था, वही अब प्रजापति अर्थात् अमृतों का रचने वाला बना है, (पर इस कल्पना में कोई मूल नहीं मिलता—सम्पादक) ॥

भवन्ति । तदेतत् पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा, अनेन ह्येतत् सर्वं वेद । यथा ह वै पदेनानुविन्देद्, एवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते, य एवं वेद ॥ ७ ॥

वह यह (जगत) उस समय अस्फुट था । यह नाम और रूप (शकल) से ही स्फुट हुआ, कि यह इस नाम वाला है* और इस रूप वाला है । अब भी यह नाम और रूप से ही स्पष्ट किया जाता है कि यह (वस्तु) इस नाम वाली है और इस रूप वाली है ॥

जैसे उस्तरा किस्बत=(पंजाबी में—रछानी, गुत्थी) में रक्खा हुआ हो, वा जैसे अग्नि† आग्नि के घर (लकड़ी) में हो, वैसे यह (सर्वान्तरात्मा) नखों के अग्रतक, इस में प्रविष्ट हुआ । उसको देख नहीं सक्के, क्योंकि वह सम्पूर्ण नहीं है । वह सांस लेता हुआ प्राण नाम होता है, बोलता हुआ वाणी, देखता हुआ नेत्र, सुनता हुआ श्रोत्र, और सोचता हुआ मन (नाम होता है) । सो ये इसके सब कर्मनाम ही हैं । वह जो इन में से एक २ की उपासना करता है, वह उसको नहीं जानता है, क्योंकि यह इनमें से एक२ (कर्म) से असम्पूर्ण होता है । चाहिये कि वह आत्मा है, इस ख्याल से उसकी उपासना करे, क्योंकि इस में (आत्मा में) ये सारे (कर्म) एक होजाते हैं । सो इसी वस्तु की हर एक मनुष्य को खोज करनी चाहिये, जो यह आत्मा है । क्योंकि इसके द्वारा ही मनुष्य हर एक वस्तु को जानता है । और जैसाकि कोई

---

* असौनामा=यह समस्तपद इदंनामा की जगह प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि असौ, नाम, इस प्रकार दोनों अलग २ पद होसक्के हैं, तथापि 'अयं' और, इदंरूपः' के स्वारस्य से समस्तपद ही संगत प्रतीत होता है।

† विश्म्भर=अग्नि, देखो-कौषी० ब्रा० उप० ६।१९; वायु (आनन्द तीर्थ)

पुरुष खोज से (खोए हुए पशु) फिर पालेवे, इसप्रकार वह कीर्ति और स्तुति को पालेता है,* जो इस (रहस्य) को जानता है॥७॥

अभिप्राय यह है—जब कोई वस्तु नई उत्पन्न होती है,तो उसमें नयापन केवल नाम औररूप का ही होता है,असली तत्त्व में कोई भेद नहीं होता। मट्टी के बर्तन अब भी मट्टी ही हैं, हां मट्टी की अवस्था में ये रूप (शकलें) न थे, और ये नाम न थे, जो अब हैं। इसी प्रकार यह जगत् भी पहले एक ही अव्यक्तरूप में था, फिर जब यह व्यक्त हुआ,तो इस में नाम और रूप ही नए आए। और वही तत्त्व है,जो पहले था। वह आत्मा जो पहले उस अव्यक्त जगत् का अन्तरात्मा था, वही अब इस व्यक्त नाम रूप का अन्तरात्मा है, क्योंकि वह सर्वान्तरात्मा है। अन्तर्यामी ब्राह्मण में जहां उसको द्यौ और पृथ्वी का अन्तरात्मा और नियन्ता बतलाया है, वहां प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन त्वचा और जीवात्मा का भी अन्तर्यामी बतलाया है। वैसा ही यहां कहा है,कि वह इस अध्यात्म में हरएक के नख के अग्रपर्यन्त प्रविष्ट हो कर प्राण वाणी आदि का सबका नियन्ता है। प्राण वाणी आदि उसी से शक्ति लाभ करते हैं, "येन प्राणः प्रणीयते, येन वागभ्युद्यते,"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" और वह इनको शक्ति देता हुआ इन्हीं के नाम धारण करता है। क्योंकि वास्तव में प्राण उसके बिना अप्राण है,इसलिये सच्चा प्राण वह है,और वाक् उसके बिना अवाक् है। इसलिये सच्ची वाक् वह है। पर ये सब उसके कर्मनाम उसके एक २ कर्म को प्रकाशित करते हैं, इस प्रकार उसकी

---

* इसके द्वारा मनुष्य हर एक वस्तु को जानता है, जैसे कि कोई खोज से खोए हुए पशु को पालेवे (शङ्कराचार्य)—

व्याष्टि महिमा प्रकाशित होती है, उसकी समष्टि महिमा इस से प्रकाशित नहीं होती, उस की पूर्ण महिमा 'आत्मा' इसी एक शब्दमें आती है, क्योंकि वह हर एक वस्तु का आत्मा है। यद्यपि वह हमारे रोम २ में रम रहा है, तथापि हम उसको देख नहीं सक्ते, वह अरणि में अग्नि की नांई छिपा हुआ है॥

तदेतत् प्रेयः पुत्रात्, प्रेयो वित्तात्, प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्, प्रियꣳरोत्स्यतीति ईश्वरो ह तथैव स्यात्। आत्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते, न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति॥८॥

सो यह पुत्र से अधिक प्यारा है, धन से अधिक प्यारा है, और हर एक वस्तु से अधिक प्यारा है, यह सब से अधिक निकट है, जो यह आत्मा है॥

यदि कोई पुरुष आत्मा के सिवाय किसी दूसरे को प्यारा कहता है, तो वह (पुरुष जो आत्मा के सिवाय किसी को प्यारा नहीं समझता) उसको कह सक्ता है, कि 'वह अपने प्यारे को खोदेगा, तो वैसा ही होगा (अर्थात् यह वचन पूरा होगा) क्यों कि वह समर्थ है, (ऐसा कहने का हक रखता है)। (अत एव हर एक को) केवल आत्मा ही प्यारा समझ कर उपासना चाहिये। वह पुरुष, जो केवल आत्मा को ही प्यारा समझ कर उपासता है, इसका प्यारा नश्वर * नहीं होता॥८॥

---

* प्रमायुकं=मरने के स्वभाववाला=नश्वर। जो आत्मभिन्न वस्तुओं को प्रेमपात्र बनाता है, उसका प्रेमपात्र नश्वर है, और इसलिये वह उसके नाश में दुःख उठाता है। और जिसका प्रेमपात्र आत्मा है, वह सदा सुखी होता है, क्योंकि उसका प्रेम उसमें है, जिसके लिये जरा और मृत्यु नहीं, जो सदा एकरस है॥

तदाहुः"यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्यामन्य-न्ते, किमु तद्ब्रह्मावेद्, यस्मात् तत्सर्वमभवदिति"।९॥

यहां वे (जिज्ञासु) कहते हैं "कि मनुष्य जो समझते हैं, कि हम ब्रह्मविद्या से सब कुछ बनजाएंगे, तो वह क्या था जो ब्रह्म ने समझा, जिस से कि वह सबकुछ होगया, ॥ ९ ॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेद्, 'अहं ब्रह्मास्मि' इति । तस्मात् तत्सर्वमभवत् । तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत्; तथर्षीणां, तथा मनुष्याणां । तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवःप्रतिपेदे । "अहं मनुरभवं सूर्यश्च"इति । तदिदमप्येतर्हि य एवंवेद, अहं ब्रह्मास्मीति, स इद७सर्वं भवति,तस्य ह न देवा-श्चनाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येषा७स भवति । अथयो-ऽन्यां देवतामुपास्ते; ऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद । यथा पशुरेव७स देवानाम् । यथा हवै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युः; एवमेकैकः पुरुषो देवान् भु-नक्ति,एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति; कि-मु बहुषु । तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन् मनुष्या विद्युः१०

सचमुच यह आरम्भ में ब्रह्मथा, उसने केवल अपने आप को जाना 'मैं ब्रह्म हूं' इस से वह सब कुछ होगया । इस प्रकार जो २ देवताओं में से जागा (जिसकी अविद्या दूर हुई) वही

वह (ब्रह्म) बनगया? इसी प्रकार ऋषियों में से और इसी प्रकार मनुष्यों में से (जो जागा, वही ब्रह्म बनगया)। यह जब बामदेव ऋषिने देखा, तो उसने निश्चय किया, "मैं मनु हुआ मैं सूर्य हुआ" * सो इस (तत्त्व) को अब भी जो इस प्रकार समझता है 'कि मैं ब्रह्म हूं" वह यह सब कुछ होजाता है, और देवता भी उसके ऐश्वर्य्य के रोकने में समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह इन (देवताओं) का आत्मा होजाता है। अब जो अन्य देवता की उपासना करता है—यह समझता हुआ कि वह (देव) और है, और मैं और हूं, वह नहीं जानता है। वह देवताओं के पशु की नाई है। और जैसाकि बहुत से पशु एक २ मनुष्य का पालन करते हैं, ठीक ऐसे ही एक २ पुरुष बहुत से देवताओं का पालन करता है। जब किसी का केवल एक ही पशु ले लिया जाए, तो उसको अप्रिय होता है। क्या फिर यदि बहुत से ले लिये जाएं, इसलिये इनको (देवताओं को) यह प्रिय नहीं, कि मनुष्य (ब्रह्म को) जानें ॥ १० ॥

यहां अभेद का वर्णन स्पष्ट प्रतीत होता है, पर ऐसा ही भेद का वर्णन बहुत जगह पर स्पष्ट पाया जाता है। यही कारण है, कि उपनिषद् का प्रचार करनेवाले कई एक आचार्य तो उपनिषद् का परम तात्पर्य अभेद में बतलाते हैं और भेद वाक्यों की अपने पक्ष में संगति लगाते हैं और दूसरे आचार्य भेद में परमतात्पर्य मानकर अभेद वाक्यों की उससे संगति मिलाते हैं। पर उपनिषद् का तात्पर्य इन दोनों में से एक ही होसक्ता है, एक दूसरे से विपरीत दो तात्पर्य नहीं होसक्ते। सो इन वाक्यों

---

* ऋग्वेद ४।३।२६। ब्रह्मसूत्र में इस विषय पर विचार है।

की व्यवस्था यह प्रतीत होती है। भेद असली है और जहां अभेद है, वह किसी अभिप्राय से कहा है। "ज्ञाऽज्ञौ द्वावजावीशानीशावजाह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता" (श्वेता० उप० १। ९) दो अज (अनादि) हैं, उन में से एक में पूर्णज्ञान है और दूसरे में अज्ञान है, एक ईश्वर है और दूसरा अनीश्वर है। और एक और अज (अनादि) है जिस में भोक्ता की सारी भोग्य वस्तुएं पाई जाती हैं। इसी प्रकार फिर लिखा है "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" (श्वेता० उप० १। १२) भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति) और प्रेरनेवाले (ईश्वर) को जानकर॥ इत्यादि स्थलों में स्पष्ट जीव ईश्वर का भेद वर्णन किया है। ब्रह्मसूत्रों में बहुत से उपनिषद्-वाक्यों के द्वारा जीव ईश्वर का भेद दिखलाया है, ये वाक्य अपने २ अवसर पर दिखलाए जाएंगे। फिर यहां बृहदारण्यक में भी ब्रह्म को सर्वान्तर्यामी वर्णन करने के प्रसंग में स्पष्ट जीव ईश्वर का भेद दिखलाया है "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं" (३।७।२२) जो जीवात्मा में रहकर जीवात्मा से अलग है, जिसको जीवात्मा नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है यहां 'विज्ञाने' शब्द जीवात्मा के अर्थ में है, क्योंकि माध्यंदिनीय शाखा की उपनिषद् में 'विज्ञाने' की जगह 'आत्मनि' शब्द

(यह टिप्पणी पृष्ठ ८६ की 'देवताओं के पशु की नाईं है' की है)

* पूर्व कह आए हैं, कि हर एक देवता की पूजा उसी ब्रह्म की पूजा है, क्योंकि वही सारे देवता है, फिर यहां देवपूजा की निन्दा नहीं हो सक्ती, इस लिये यहां उन लोगों की निन्दा है, जो उस अन्तरात्मा को नहीं जानते, और न उसके साथ इस परम सम्बन्ध को अनुभव करते हैं, खाली बाह्य क्रियामात्र कर छोड़ते हैं

पढ़ा है। ब्रह्मसूत्रों में इस प्रकरण का विचार किया है। कि अन्तर्यामी से अभिप्राय क्या है, सिद्धान्त यह है, कि अन्तर्यामी ईश्वर के अभिप्राय से कहा है, इस पर जो यह आशंका हुई, कि अन्तर्यामी से तात्पर्य जीवात्मा ही क्यों न लिया जाए, क्योंकि जीवात्मा इस जड़ जगत् के अन्दर रहकर इसको नियम में रखता है, तो इसका उत्तर यह दिया है, कि "शारीरश्चोभयेपि भेदेनैनमधीयते" (ब्रह्मसू० १।२। २०) अर्थात् अन्तर्यामी जीवात्मा भी नहीं, क्योंकि दोनों शाखाओं वाले जीवात्मा को अन्तर्यामी से अलग पढ़ते हैं। अर्थात् काण्वशाखा वाले "यो विज्ञाने तिष्ठन्"=जो विज्ञान अर्थात् जीवात्मा में रहकर, यह पाठ पढ़ते हैं और माध्यन्दिन "य आत्मनि तिष्ठन्"=जो आत्मा में रहकर, यह पढ़ते हैं। इस प्रकार दोनों शाखावाले जीवात्मा से अन्तर्यामी को अलग ठहराते हैं, इसलिये अन्तर्यामी से अभिप्राय जीवात्मा नहीं, परमात्मा है। इस अर्थ में कोई विवाद नहीं, स्वामी शङ्कराचार्य्य भी ठीक ऐसा ही अर्थ लिखते हैं। वे इस पर टिप्पणी यह चढ़ाते हैं, कि यह भेद उपाधिसे है, जैसे घटाकाश और महाकाश में उपाधि से भेद है। पर यहां जो असली प्रश्न उत्पन्न होता है, उसका उत्तर स्वामी शङ्कराचार्य्य के भाष्य से नहीं मिलता। वह प्रश्न यह है, कि माना, आकाश में कोई भेद नहीं, घट के अन्दर भी वही आकाश है और बाहर भी वही आकाश है, केवल घट के हेतु से उसको घटाकाश कह देते हैं, वस्तुतः आकाश में कोई भेद नहीं। पर ऐसा भी तो कभी नहीं कहते, कि घटाकाश के अन्दर भी कोई आकाश है। क्योंकि वह आप ही अकाश है, उसके अन्दर फिर आकाश कैसे कहें। और यहां (बृहदा० उप० ३।७। २२ में) तो स्पष्ट

यह कहा है, कि वह आत्मा के अन्दर रहकर आत्मा से न्यारा है, आत्मा उसको नहीं जानता, आत्मा उसका शरीर है। जब आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं, तो फिर ब्रह्म उसके अन्दर कैसे हुआ और आत्मा से न्यारा कैसे हुआ ? और आत्मा उसका शरीर कैसे हुआ ? ये सारी बातें असली भेद में ही घट सक्ती हैं, अन्यथा नहीं। फिर हम यह भी देखते हैं, कि मुक्ति की अवस्था में भी स्पष्ट भेद दिखलाया है। जैसाकि तैत्तिरीय० उप० २ । १ में है "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"=वह पुरुष जो उस ब्रह्म को जानलेता है, जिसका स्वरूप सत्य, ज्ञान और अनन्त है और जो परम आकाशमें गुहा के अन्दर है, वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को भोगता है॥ इसी प्रकार "अत्र ब्रह्म समश्नुते"=यहां वह ब्रह्म का उपभोग करता है, कहा है। ब्रह्म का उपभोग करना वा उसके साथ भोगों का भोगना स्पष्टतया भेद का बोधक है। यद्यपि मुक्ति अवस्था का यह वर्णन भी है कि "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" वह जो ब्रह्म को जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है। पर साथ ही यह वर्णन भी है, "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्डक ३ । ३) जब यह देखने वाला सब के कर्ता परिपूर्ण, ज्योतिर्मय ब्रह्म को देखता है, तब वह जाननेवाला पुण्य पाप को झाड़कर निरञ्जन बन कर परम तुल्यता को प्राप्त होता है॥ मुण्डक के

इन दो वचनों में से एक वचन तो यह कहता है, कि वह ब्रह्म ही होजाता है और दूसरा कहता है, कि वह उसके तुल्य हो जाता है। ये दोनों वचन एक ही उपनिषद में हैं। दोनों का अभिप्राय एक ही होना चाहिये। अब यह तो स्पष्ट है, कि तुल्यता तो एक में हो ही नहीं सक्ती, यह उसके तुल्य है तभी कहाजाता है, जब दो भिन्न २ पदार्थ हों। पर किसी को तद्रूप वर्णन करना एकता में भी होता है, जैसे बर्फ पानी ही है। और तुल्यता में भी होता है, जैसे छलबल न करने वाले को कहते हैं, कि यह ऋषि ही है, जिसका भारी ऐश्वर्य हो, उसको कहते हैं, यह राजा ही है। जो हर एक बात में साथ देने वाला हो उसको कहते है, यह मेरा भाई ही है। इन सब का अर्थ यही है, कि वह ऋषि के तुल्य है, राजा के तुल्य है और भाई के तुल्य है। इसी प्रकार "ब्रह्मैव भवति" का अर्थ है—ब्रह्म के तुल्य होजाता है। तब ये दोनों वचन एक दूसरे से संगत होजाते हैं। ब्रह्म की उपासना से आत्मा उसके गुणों को धारण करता है क्योंकि **"तं यथा यथोपासते तदेव भवति"** उसको जैसे २ उपासता है, वंही होजाता है, इसलिये कहा है—**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**—यह एक और वचन भी है, जो हमारे आशय को पूरा दृढ़ करता है **"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्त्वमेति"** (श्वेता० उप० १।६) अलग अपने आत्मा को और प्रेरने वाले को समझकर तब उससे प्यार किया हुआ मुक्ति पा लेता है॥ इस प्रकार मुक्ति में भी स्पष्ट भेद दिखलाया है। अतएव यहां बृहदारण्यक में भी हम यह समझते हैं—कि आत्मा, जब बाहर की ओर झुका हुआ है, तो वह अपने शरीर के साथ एक हो रहा है। शरीर में कोई रोग हो, तो

वह अपने आपको रोगी समझता है, शरीर स्वस्थ हो, तो वह अपने आपको स्वस्थ समझता है। वह इस तरह इस शरीर में लीन होरहा है, कि मानो शरीर और आत्मा एक ही वस्तु है। इसी प्रकार जब वह अपने अन्तरात्मा की ओर झुकता है, तो वह पहले बाहर से हटकर अपने स्वरूप में स्थित होता है, और फिर अपने स्वरूप के अन्दर * परमात्मा को देखता है। तब वह अपने स्वरूप में उस अन्तरात्मा को धारण करके "अहं ब्रह्मास्मि" कहता है। क्योंकि पहले जो एकता उसकी जड़ प्रकृति के साथ थी, अब वह उसकी अपने अन्तर्यामी के साथ है। पहले जिस तरह शरीर और आत्मा एक होरहे थे, अब उसी तरह आत्मा और परमात्मा एक होरहे हैं। और यह सत्य है, कि आत्मा प्रकृति में जबतक अपने आपको लीन नहीं करलेता, प्रकृति का उपभोग नहीं कर सक्ता। इसी प्रकार जबतक वह अपने आपको परमात्मा में लीन नहीं करलेता, परमात्मा का उपभोग नहीं कर सक्ता, इस उपभोग में मग्न हुआ वह अपने आप से भी बेखबर होजाता है, और उसके आत्मा में अपने उपास्य का आवेश होता है "तं यथा यथोपास्ते तदेव भवति"

दूसरा—जिससे जिसको सामर्थ्य मिलता है, उसका वाचक शब्द उसके लिये बोला जाता है, जैसे १। ५। २१ में इन्द्रियों के लिये प्राण शब्द है। आत्मा भी परमात्मा से शक्तिलाभ करता है

---

* यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वेता० १। १५) जब योगयुक्त होकर दीपक की नाईं आत्मतत्व को देख ले, तब वह उस अनादि अटल और सारे तत्त्वों से शुद्ध देव को जानकर सब फांसों से छूट जाता है॥

इसलिये कहा है-चेतनश्चेतनानां इस कारण से आत्मा के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग होसक्ता है ॥

अथवा यहां ब्रह्म से तात्पर्य विराट् है, क्योंकि यहां पहले और आगे विराट् का वर्णन है । विराट् ही सब कुछ है । देवता ऋषि, और मनुष्य भी विराट् के अन्तर्गत हैं, चारों वर्ण विराट् के भिन्न२ अङ्ग हैं (देखो ऋग्०१०।९०।१२)विराट् से भिन्न नहीं, विराट् के साथ एक हैं। यही एकता वामदेव के वचन से दिखलाई है, जो कोई इस अभेद को अनुभव करले, वह सब कुछ होता है, देवता उसके लिये रुकावट नहीं डालते, वह तो देवताओं का अपना आप है। हां देवताओं का वह पशुवत् काम देता है, जो इस अभेद को न समझकर उनके लिये देता है ॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव । तदेक৺सन्नव्य-भवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति । तस्मात् क्षत्रात् परंनास्ति,तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये । क्षत्र एव तद्यशो दधाति । सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म। तस्मा-द्यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैवान्तत उपनिश्र-यति स्वां योनिं । य उ एन৺हिनस्ति, स्वा৺स योनि मृच्छति । स पापीयान् भवति, यथा श्रेया৺स৺ हिं৺सित्वा ॥ ११ ॥

निश्सन्देह आरम्भ में यह केवल एक ब्रह्म था, वह अकेला

हुआ पूरा समर्थ नहीं हुआ। अब उसने एक बहुत अच्छी सृष्टि रची, जो क्षत्र (बल, वा क्षत्रियजाति) है *। देवताओं में ये क्षत्र हैं—इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान। सो क्षत्र से परे (बढ़कर) कुछ नहीं, इसलिये राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठता है। वह क्षत्रिय पर ही उस यश को रखदेता है †। पर यह क्षत्रका उत्पत्ति-स्थान है, जो ब्रह्म (ब्राह्मणत्व) है। इसलिये राजा यद्यपि (राजसूययज्ञ में ब्राह्मण से) ऊंचाई पाता है,पर (यज्ञ के) अन्त में वह ब्राह्मण के, जो कि उसका कारण है, नीचे ही बैठता है। वह (क्षत्रिय) जो इस (ब्राह्मण)की हिंसा करता है (अनादर करता है),वह अपने कारण की हिंसा करता है; वह अधिक पापी ‡ बनता है, जैसा कि वह पुरुष जो अपने से भले पुरुष की हिंसा करता है ॥ ११ ॥

---

* अग्नि और ब्राह्मण की सृष्टि पूर्व कह आए हैं ॥

† राजसूय में जब राजा को तिलक हो चुकता है और वह आसन्दी (तख्त) पर बैठा हुआ अपने ऋत्विज को सम्बोधन करता है—ब्रह्मन्=हे ब्राह्मण। तब ऋत्विज उसके उत्तर में कहता है—त्वं राजन् ब्रह्मासि, हे राजन् तू ब्राह्मण है। इस प्रकार वह अपना ब्राह्मणत्व का यश राजा को देता है और आप उस समय उससे नीचे बैठता है। पर ब्रह्मसे क्षत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिये राजा ब्रह्म और क्षत्र दोनों बलों को लाभ करके भी ब्राह्मण को आदर देता है क्योंकि ब्रह्म क्षत्र का उत्पत्ति स्थान है ॥

‡ पापीयान् शब्द मुकाबिलेमें अधिक पापी के अर्थमें आता है। इसलिये स्वामी शङ्कराचार्य्य लिखते हैं,कि क्षत्रिय पहले ही क्रूर होने से पापी है, यदि वह अपने कारण का अनादर करे, तो औरभी अधिक पापी होता है। परजब वेद में परमात्माकी आज्ञा है कि मेरी जिसपर कृपा होती है,वह क्षत्रिय होता है (देखो वेदोपदेश पृ०१०४).तो हम यह आशय नहीं निकाल सके,कि क्षत्रिय पहले ही पापी है। इसलिये

स नैव व्यभवत् । स विशमसृजत, यान्येतानि देवजाति गणश आख्यायन्ते—वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥१२॥

वह (क्षत्र को रचकर भी) पूरा समर्थ नहीं हुआ। उसने विश् (वैश्य=प्रजा) को रचा, (देवताओं में वैश्य ये हैं) जो ये भिन्न२ देवताओं के समूह भिन्न२ श्रेणियों(कम्पनीयों) द्वारा कहे जाते हैं—वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत *॥१२॥

स नैव व्यभवत् । स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम् । इयं वै पूषा, इयꣳहीदꣳसर्वं पुष्यति यदिदं किंच ।१३।

वह पूरा समर्थ नहीं हुआ। उसने शूद्र के वर्ण को रचा अर्थात् पूषा (पालन पोषण करनेवाले)को।यह (पृथिवी)ही पूषा है,क्योंकि पृथिवी उस सबका पोषण करती है, जो कुछ यह है ॥१३॥

स नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं । तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्, तस्मात धर्मात् परं नास्ति । अथो अबलीयान् बलीयाꣳसमा शꣳसते

यहां यह तात्पर्य स्पष्ट है, कि किसी एक भले पुरुष की हिंसा पाप है,पर अधिक भले की अधिक पाप है। इसीलिये आगे भी 'श्रेयांसं,' कहा है : श्रेयस्, शब्द भी मुकाबिले में अधिक भले पुरुष के लिये आता है, सो ऐसे पुरुष की हिंसा का पाप भी मुकाबिले में अधिक होना चाहिये ॥

* वैश्यलोग श्रेणियें बनाकर ही धन के उपार्जन में समर्थ होते है, नकि अकेले २। इसलिये इन देवताओं को वैश्य कहा है जो श्रेणियों में रहते हैं—वसु ८ हैं रुद्र ११ आदित्य २२ विश्वेदेव १३ मरुत ४९ ॥

धर्मेण, यथा राज्ञैवं। यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्, तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर् 'धर्मं वदती'ति धर्मं वदन्तꣳ 'सत्यं वदती' त्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥ १४ ॥

वह पूरा समर्थ नहीं हुआ। अब उसने एक और बड़ी कल्याणकारिणी सृष्टि रची अर्थात् धर्म। यह क्षत्र का भी क्षत्र (बल का बल) है, जो यह धर्म है, इसलिये धर्म से बढ़कर कुछ नहीं है। अतएव एक दुर्बल मनुष्य भी धर्म की सहायता से अधिक बल वाले पर हकूमत करता है, जैसे राजा की सहायता से। धर्म वही है, जो यह सचाई है। इसीलिये यदि कोई पुरुष सत्य कहता है, तो लोग कहते हैं, कि यह धर्म कहता है, और यदि धर्म कहता है, तो लोग कहते हैं, कि सत्य कहता है। इस प्रकार यह एक ही (वस्तु) ये दोनों (धर्म और सचाई) हैं*॥१४॥

तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः। तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्, ब्राह्मणो मनुष्येषु, क्षत्रियेण क्षत्रियो, वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः। तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते, ब्राह्मणे मनुष्येषु, एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात् स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति, स एनमविदितो न भुनक्ति, यथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं। यदि ह वा अप्यनेवंविद्

---

* धर्म का लक्षण इस से बढ़कर कुछ नहीं होसकता। इस धर्म को जो अपने जीवन में मिला सका है, उसको किसी से भय नहीं। क्योंकि वह स्वयं अभयपद में विचरता है और औरों को अभय मार्ग पर लाता है॥

महत् पुण्यं कर्म करोति, तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव । आत्मानमेव लोकमुपासीत । स य आत्मानमेव लोक मुपास्ते, न हास्य कर्म क्षीयते । अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत् कामयते तदेव सृजते ॥१५॥

सो यह है ब्रह्म,क्षत्र,विश्(वैश्य)और शूद्र । देवताओं में वह ब्रह्म (विराट्) केवल अग्निरूप से ही (स्थित) हुआ, और मनुष्यों में ब्राह्मण, (दिव्य) क्षत्रिय से क्षत्रिय, (दिव्य) वैश्य से वैश्य, (दिव्य) शूद्र से शूद्र । इसलिये लोग देवताओं में से अग्नि में ही लोक (परलोक, भविष्यत्) चाहते हैं, और मनुष्यों में से ब्राह्मण में । क्योंकि इन्हीं रूपों से ब्रह्म (-विराट्,स्थित) हुआ । अब यदि कोई पुरुष अपने लोक (अपनी सच्ची दुनिया अर्थात् आत्मा) को बिना देखे इस लोक से चल बसता है, तब वह आत्मा जो इसने जाना नहीं है, इसका पालन नहीं करता (इसके शोक, मोह, भय को दूर नहीं करता) जैसाकि यदि वेद न पढ़ा हो, वा और कोई पुण्य कर्म न किया हो, (तो वह उस का पालन नहीं करता) यदि इस (आत्मा) को न जानने वाला बड़ा पुण्यकर्म भी करता है, तो वह उसका अन्ततः क्षीण होजाता है । अतएव चाहिये कि केवल आत्मा को अपना लोक समझकर उपासना करे । यदि कोई पुरुष केवल आत्मा को ही अपना असली लोक समझकर उपासता है, तो उसका कर्म नष्ट नहीं होता,क्योंकि वह इसी आत्मा से जो२कुछ चाहता है रचलेता है१५

विराट्का देवताओंमें जो रूप अग्नि है,मनुष्योंमें वह ब्राह्मण है । ये दोनों दिव्य और मानुष ब्राह्मण हैं । इसी प्रकार दिव्य

और मानुष क्षत्रिय वैश्य और शूद्र समझने चाहियें। सो ये चारों वर्ण दिव्य और मानुष ब्राह्मण द्वारा अपना लोक(भविष्यत्) सुधारते हैं।पर कर्मी को चाहिये,अपने असली लोक(अन्तरात्मा) को भी पहचाने। यदि वह उसे जानकर कर्म करता है, तो उस का कर्म क्षीण नहीं होता, और वह उस अन्तरात्मा से जो चाहता है, पाता है। और जो उस अन्तरात्मा को नहीं जानता, उसका कर्म क्षीण होजाता है॥

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः। स यज्जुहोति, यद्यजते, तेन देवानां लोकाः, अथ यदनुब्रूते, तेन ऋषीणाम्;अथ यत् पितृभ्यो निपृणाति, यत् प्रजामिच्छते, तेन पितृणाम्; अथ यन्मनुष्यान् वासयते, यदेभ्योऽशनं ददाति, तेन मनुष्याणाम्; अथ यत् पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति, तेन पशूनां; यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाᳩस्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति, तेन तेषां लोकः। यथा हवै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवᳩ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति। तद्वा एतद्विदितं मीमाᳩसितम्॥१६॥

अब यह आत्मा सब प्राणधारियोंका लोक है*। (देवयज्ञ-) वह जो होम करता है और यज्ञ करता है, इस से वह देवताओं का लोक है;(स्वाध्याय यज्ञ-)और जो वेद पढ़ता है,उससे ऋषियों का

* सब प्राणधारियों का लोक है अर्थात् सारे प्राणधारी इससे उपभोग लाभ करते हैं॥

लोक है; (पितृयज्ञ-) और जो वह पितरों को देता है और जो सन्तान को चाहता है, इससे वह पितरों का लोक है; (नृयज्ञ-) और जो वह मनुष्यों को वास देता है और जो इनको भोजन देता है, इस से वह मनुष्यों का लोक है; (भूतयज्ञ) और जो वह पशुओं के लिये घास और जल प्राप्त करता है, इससे वह पशुओं का लोक है: और जो इसके घर में चौपाए, पक्षी, और चिउंटी तक (जीवजन्तु) उपजीविका पाते हैं, इससे वह उनका लोक है। जैसाकि हर एक चाहता है, कि उसके अपने लोक को हानि न पहुंचे, इसी प्रकार सारे प्राणधारी इस (रहस्य) के जानने वाले की हानि नहीं चाहते। सो यह (विषय) जाना गया है और इस पर विचार किया गया है * ॥१६॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव । सोऽकामयत 'जाया मे स्यादथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय' इति । एतावान् वै कामः, नेच्छꣳश्चनातो भूयो विन्देत, तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते, 'जाया मे स्यादथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय' इति । स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते । तस्यो कृत्स्नता—मन एवास्यात्मा; वाग्जाया; प्राणः प्रजाः; चक्षुर्मानुषं वित्तं, चक्षुषा हि तद्विन्दते; श्रोत्रं दैवꣳश्रोत्रेण हि तच्छृणोति; आत्मैवास्य कर्म

---

* शतपथ के पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में इस विषय को लिख आए हैं, और अवदान प्रकरण में इस पर विचार किया है ॥

आत्मना हि कर्म करोति; स एष पाङ्क्तो यज्ञः, पाङ्क्तः पशुः, पाङ्क्तः पुरुषः; पाङ्क्तमिद्ꣳसर्वं यदिदं किञ्च। तदिदꣳसर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥१७॥

आरम्भ में यह केवल आत्मा अकेला ही था। उसने इच्छा की 'मेरे लिये स्त्री हो, तब मैं सन्तान वाला बनूं, और मेरे लिये धन हो, तब मैं कर्म करूं' इतनी ही (मनुष्यकी) कामना है, चाहता हुआ भी इससे बढकर नहीं पासक्ता, इसलिये अब भी अकेला इच्छा करता है, 'मेरे लिये स्त्री हो, तब मैं सन्तान वाला बनूं, और मेरे लिये धन हो, तब मैं कर्म करूं'। वह जबतक इन (स्त्री, सन्तान, धन और कर्मों की पूर्ति) में से एक २ को नहीं पालेता, तब तक (अपने आपको) पूर्ण नहीं मानता। उस की पूर्णता (इस प्रकार बनती है)—मन ही इसका आत्मा (पति) है; वाणी पत्नी है: प्राण सन्तान है; नेत्र मानुष धन है क्योंकि नेत्र से उस (मानुषधन) को पाता है: श्रोत्र दैव (धन) है; क्योंकि श्रोत्र से उस (देवधन) को (वेद द्वारा) सुनता है, (शरीर) ही इसका कर्म है, क्योंकि शरीर से ही कर्म करता है। सो यह पांच से बना हुआ यज्ञ है, पांच से बना हुआ पशु है, पांच से बना हुआ पुरुष है, पांच से बना हुआ यह सब कुछ है, जो कुछ यह है *। जो इस (रहस्य) को जानता है, वह इस सब को पालेता है ॥ १७ ॥

मनुष्य की कामना इतनी ही है, कि उसके पास स्त्री और पुत्र हों, और धन दौलत हो, जिससे वह बड़े२ यज्ञ और दूसरे कर्म करसके, शेष सारी कामनाएं इन्हीं के अन्दर हैं, इनसे अलग

* देखो तै० उप० १।७।१॥

नहीं। इनमें से जबतक कोई भी कामना पूर्ण न हो, पुरुष अपने आपको पूर्ण नहीं समझता। पर यह उसकी भूल है, इन बाह्य साधनों से उसकी सच्ची पूर्णता नहीं, सच्ची पूर्णता उन साधनों से है, जो उसको साथही दिये गये हैं। सो मन यजमान है, जो सारे शुभसंकल्पों (यज्ञों) का करने वाला है। वाणी पत्नी है, जो उन शुभ कर्मों में सहायता देती है। इन दोनों की एकता से जो सन्तान होती है, वह प्राण है, जीवन है। यज्ञ में जो गौ आदि मानुष धन है, वह यहां नेत्र है, क्योंकि यह इन सारे धनों की प्राप्ति का साधन है। उपासना और ज्ञान जो दैवधन है, वह यहां श्रोत्र है, क्योंकि श्रोत्र से उपासना और ज्ञान को सुनते हैं, और उसका शरीर यज्ञ का कर्म है। सो यज्ञ, पति, पत्नी, मानुष धन, दैव धन और कर्म इन पांच से बना है। दूसरी वस्तुएं भी पांच तत्त्वों से ही बनी हैं। सो जो मन वाणी, नेत्र, श्रोत्र और कर्म से अपनी पूर्णता बना लेता है, उसके सब कुछ अधीन होजाता है॥

पांचवां ब्राह्मण—

यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता।
एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् ॥१॥
त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्।
तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न ॥२॥
कस्मात् तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा।
यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन ॥३॥
सदेवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवती,ति श्लोकाः॥

(सृष्टि के) पिता ने ज्ञान और तप से जो सात अन्न उत्पन्न किये । (उन में से) एक अन्न इसका(=सारे प्राणधारियों का) सांझा है, दो देवताओं को बांट दिये ॥ १ ॥ तीन उस ने आत्मा के लिये बनाए, एक पशुओं को दिया, उस में सब कुछ सहारा लिये हुए है, जो सांस लेता है, और जो (सांस) नहीं (लेता) ॥ २ ॥ वे (अन्न) क्यों क्षीण नहीं होजाते,जबकि सदा खाए जारहे हैं ? जो इस न क्षीण होने को जानता है,वह अपने मुख से अन्न खाता है ॥ ३ ॥ वह देवताओं में मिल जाता है और वह रस (अमृत) का उपभोग करता है॥४॥ (आगे ये श्लोक हैं (पूर्व ऋषियों के, जिनमें इन सारी बातों की व्याख्या है) ॥१॥

'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिते' ति मेधया हि तपसाऽजनयत्पिता । 'एकमस्य साधारणमि'तीदमेवास्य तत् साधारणमन्नं यदिदमद्यते।स य एतदुपास्ते, न स पाप्मनो व्यावर्तते,मिश्रꣳह्येतत् । 'द्वे देवानभाजयद्,इति । हुतं च प्रहुतं च । तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्रचजुह्वति, अथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति,तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात् । 'पशुभ्य एकं प्रायच्छदि'ति तत्पयः । पयोह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति, तस्मात् कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति, स्तनं वाऽनुधापयन्ति, अथ वत्संजातमाहुरतृणाद इति । "तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न"इति पयसि हीदꣳसर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । तद्यदिद

माहुः, 'संवत्सरं पयसा जुह्वदपपुनर्मृत्युं जयति' इति। न तथा विद्याद्, यदहरेव जुहोति, तदहः पुनर्मृत्यु मपजयत्येवं विद्वान् सर्वꣳहि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति,। 'कस्मात् तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा' इति पुरुषो वा अक्षितिः, सहीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। 'यो वै तामक्षितिं वेद' इति। पुरुषो वा अक्षितिः, सहीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिः, यद्धैतन्न कुर्यात् क्षीयेतह। 'सोऽन्नमत्ति प्रतीकेने' ति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्। 'स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवति' ति प्रशꣳसा॥ २॥

*(सृष्टि के) पिता ने "ज्ञान और तप से जो सात अन्न उत्पन्न किये" यह सच है, कि उसने ज्ञान और तप (श्रम) से ही सात अन्न उत्पन्न किये हैं। "(उन में से) एक अन्न इस का (सारे प्राणधारियों) का सांझा है" वह सांझा अन्न यही है जो यह खाया जाता है। वह पुरुष जो इस (सांझे अन्न को) उपासता है (खाता है) वह पाप से अलग नहीं होता, क्योंकि यह (अन्न) (सबका) मिला हुआ है। "दो देवताओं को बांट दिये" (वे, दो, ये, हैं) हुत और प्रहुत=(हुत=देवताओं के लिये अग्नि में होम करना और प्रहुत=बलि देना) इसलिये देवताओं के लिये होम करते हैं और बलि देते हैं। और यह भी कहते हैं, कि (देवताओं के दोनों अन्न हुत प्रहुत नहीं किन्तु) दर्श

---

* इस खण्ड में पिछले श्लोकों की व्याख्या है, जो पाठ अन्योक्ति "इस चिन्ह" के अन्दर है वह पिछले श्लोक का है। उसके आगे उसकी व्याख्या है वा उसके विषय में कुछ कहा है।

और पूर्णमास (दर्शेष्टि और पूर्णमासेष्टि) हैं * इसलिये मनुष्य को निरा काम्य इष्टियें करने वाला ही नहीं बने रहना चाहियें†। "एक पशुओं को दिया" वह दूध है। क्योंकि आरम्भ में (बचपन में) मनुष्य और पशु दूध का ही उपभोग करते हैं, इस लिये नए उत्पन्न हुए बच्चे को पहले पहल घी चटाते हैं वा स्तन पिलाते हैं ‡। और सजाए बछड़े को कहते हैं कि 'अतृणाद' है अर्थात् अभी घास नहीं खाता। "उस पर सब कुछ सहारा लिये हुए है, जो सांस लेता है और (सांस) नहीं (लेता है)"। क्योंकि दूध पर यह सब कुछ सहारा लिये हुए है, जो सांस लेता है और सांस नहीं लेता है § ॥

---

* श्लोक में यह कहा था, कि दो अन्न देवताओं को बांटदिये, पर श्लोक में यह स्पष्ट नहीं कि वे दो कौनसे हैं, इसलिये सम्भव होने से कई लोगों ने उन दो से हुत प्रहुत समझे हैं और दूसरों ने दर्श, पूर्णमास। उपनिषद् में दोनों मत दिखलादिये हैं॥

† शतपथ ब्राह्मण में इष्टि शब्द उनके लिये प्रसिद्ध है जो काम्य इष्टियें हैं। इसीलिये यहां इष्टिका अर्थ काम्य इष्टि किया है,अभिप्राय यह है, कि दर्श पूर्णमास देवताओं का अन्न है और मनुष्य देवताओं का दिया हुआ खाता है, इसलिये दर्श पूर्णमास उसका आवश्यक कर्तव्य है। अतएव ये इष्टियें नित्य धर्म समझकर करनी चाहियें, न कि काम्य इष्टियें समझकर। काम्य इष्टियों के न करने से मनुष्य पापी नहीं होता, पर नित्य कर्म के त्याग से पापी बनता है॥

‡ जातकर्म संस्कार में पहले सोने की सलाई से घी चटाते हैं फिर माता का दूध पिलाते हैं (देखो बृह० उप० ६। ४। २५)

§ जो सांस नहीं लेता, उसका सहारा दूध पर कैसे है? इस का आशय यह सम्भव प्रतीत होता है,कि दूध की आहुति से सांस न लेने वाले जगत् को भी पुष्टि मिलती है॥

अब जो यह कहते हैं, कि यदि कोई पुरुष बरसभर दूध से होम करता है, तो वह फिर मृत्यु को जीत लेता है, यह ऐसा नहीं समझना चाहिये। जिस दिन ही वह (दूध से) होम करता है, उसी दिन ही वह फिर मृत्यु को जीत लेता है; क्योंकि जो यह जानता है, वह देवताओं को खाने योग्य सब आहार देता है (अर्थात् दूध)। "वे अन्न क्यों क्षीण नहीं हो जाते, जबकि वह सदा खाए जारहे हैं" (इसका उत्तर यह है) कि पुरुष * (विराट्) अक्षिति (क्षीण न होने वाला) है, वह इस अन्न को फिर २ उत्पन्न करता है।

"जो इस अक्षिति (न क्षीण होने) को जानता है" कि निःसन्देह पुरुष अक्षिति है, वह इस अन्न को अपने हर एक ज्ञान से और कर्मों से उत्पन्न करता है। यदि वह इसको उत्पन्न न करे, तो यह क्षीण होजाए। "वह अपने मुख से अन्न खाता है" यहां प्रतीक मुख के अर्थ में है इसलिये मुख से।

"वह देवताओं में मिलजाता है और वह अमृत का उपभोग करता है" यह (इस विद्या के जानने वाले की) प्रशंसा है ॥२॥

भाष्य—परमात्माने अपनी सारी प्रजा के लिये सात प्रकार केअन्न उत्पन्न किये हैं, जिन में से वह अन्न जो हम प्रतिदिन खाते हैं,वह उसकी सारी प्रजा का सांझा है, उसपर सबका स्वत्व है। अतएव इस अन्न में से देवता, अतिथि, और पशु आदि के लिये भाग निकाला जाता है। यदि कोई इनके लिये न देकर केवल अपने लिये पकाता है,तो वह केवल पाप खाता है,जैसाकि शास्त्र में कहा है—

* अन्न खाने वाले पुरुष अन्न को यज्ञ द्वारा बार २ उत्पन्न करते रहते हैं इसलिये क्षीण नहीं होता (शङ्कराचार्य्य)

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य । नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ (ऋग् १०।११।७।६)

पवित्रज्ञान से शून्य पुरुष व्यर्थ ही अन्न को लाभ करता है, मैं स्पष्ट कहता हूं, कि वह (अन्न) उसकी (खुराक नहीं) मौत ही है । जो न अर्यमा को पुष्ट करता है (यज्ञ द्वारा देवपूजा नहीं करता)और न मित्र को पुष्ट करता है,वह अकेला खानेवाला केवल पापी बनता है ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व-किल्बिषैः ।
भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

यज्ञ का बचा हुआ खाने वाले बनकर सब पापों से छूट जाते हैं । पर वह केवल पाप खाते हैं,जो अपने अर्थ ही पकाते हैं (गीता ३ । १३) अतएव यह अन्न जो हम खाते हैं, इसमें सबका हिस्सा है, जो सब को देकर आप खाता है,वह पुण्यात्मा है और जिसके अन्न में से देवता, मनुष्य और पशुओं को भाग नहीं मिलता, वह पापी है ॥

संगति—सात अन्नों में से चार अन्नों की व्याख्या कर आए है । तीन अन्नों की व्याख्या का स्थान यद्यपि दर्श पूर्णमास के अनन्तर था, पर इन तीनों का आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक रूप विस्तृत विषय है, इसलिये वहां से अलग करके अब उनकी व्याख्या आरम्भ करते हैं :—

'त्रीण्यात्मनेऽकुरुते'ति मनो वाचं प्राणं । तान्यात्मनेऽकुरुत । 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्र

मना अभूवं नाश्रौषमि'ति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति । कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत सर्वं मन एव। तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति । यः कश्च शब्दो वागेव सा । एषा ह्यन्त मायत्ता एषा हि न । प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत् सर्वं प्राण एव । एतन्मयो वा आत्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३ ॥

"तीन उसने आत्मा के लिये बनाए" अर्थात्-मन, वाणी और प्राण । इन तीनों (अन्नों) को उसने आत्मा के लिये बनाया । (जैसाकि लोग कहते हैं कि) "मेरा मन कहीं और था, मैंने नहीं देखा; मेरा मन कहीं और था, मैंने नहीं सुना" सचमुच मनुष्य मन से ही देखता है मन से ही सुनता है* कामना, संकल्प, संशय, श्रद्धा, श्रद्धा की कमी, धारणा (स्मृति), स्मृति की कमी, † लज्जा, बुद्धि, भय, यह सब कुछ मन ही है । इसलिये यद्यपि पीठ की तर्फ से किसी को छुआ जाए, तो भी वह मन से जान लेता है ‡। जो कोई शब्द है, वह सब वाणी ही है । निःसन्देह

---

* मन दूसरी ओर हो, तो न सुनता है, न देखता है ॥

† धृति=धारणा अर्थात देह आदि को थामे रखना और अधृति=न थामे रखना (शंकराचार्य्य) ॥

‡ अगर किसी को सामने की तर्फ से छुएं, तो वह छूने वाले को आंखों से देखकर पहचान सका है, पर यदि पीठ की तर्फ से छुएं, तो भी वह पहचान लेता है, वहां तो आंखों ने कोई सहायता

यह अन्त तक पहुंचती है और यह अपने आप कुछ नहीं। *प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान यह सब जीवनशक्ति (अन) केवल प्राण ही है †। निःसन्देह यह आत्मा एतन्मय (इन्हीं पर निर्भर रखने वाला) है, वाणी पर निर्भर रखता है; मन पर निर्भर रखता है; प्राण पर निर्भर रखता है ॥ ३ ॥

सं०—इन्हीं तीन अन्नों का बाह्य जगत् में विस्तार कहते हैं:—

त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोको; मनोऽन्तरिक्षलोकः, प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ॥ त्रयो वेदा एत एव। वागेवर्ग्वेदः,मनो यजुर्वेदः,प्राणः सामवेदः॥५॥ देवाः पितरो मनुष्या एत एव । वागेव देवाः, मनः पितरः, प्राणो मनुष्याः॥६॥ पिता माता प्रजैत एव । मन एव पिता, वाङ्माता, प्राणः प्रजा ॥७॥

तीनों लोक यही हैं । वाणी ही यह लोक (पृथिवी लोक) है, मन अन्तरिक्ष लोक है, प्राण वह लोक (द्यौ लोक) है ॥ ४ ॥

नहीं दी, यह केवल मन ही है, जो उसको पहचानता है । इस तरह मन बाकी इन्द्रियों के साथ मिलकर भी और स्वतन्त्र भी अपनी अनन्त वृत्तियों से आत्मा को भोग भुगाता है ॥

* वाणी किसी बात के प्रगट करने के लिये बोली जाती है। इसी से मनुष्य के सारे व्यवहार चलते हैं। इस प्रकार यह मनुष्य का बड़ा भारी प्रयोजन सिद्ध करती है। इस प्रयोजन के सिवा यह अपने आप कुछ नहीं ॥

† प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, । ये भिन्न २ कार्यों के हेतु से प्राण के ही नाम हैं। इनके भिन्न कार्य देखो बृह० उप० ३। ४। ० प्रश्न० उप० ३। ४—७ ॥

तीनों वेद यही हैं। वाणी ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है, प्राण सामवेद है ॥ ५ ॥ देवता पितर और मनुष्य यही हैं। वाणी ही देवता हैं, मन पितर हैं, प्राण मनुष्य हैं ॥ ६ ॥ पिता माता और सन्तान यही है, मन ही पिता है, वाणी माता है प्राण प्रजा है ॥७॥

विज्ञातं विजिज्ञास्य मविज्ञातमेत एव। यत् किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं, वाग्घि विज्ञाता, वागेनं तद् भूत्वाऽवति॥८

जो कुछ जाना हुआ है, जिसके जानने की इच्छा है, और जो कुछ बेमालूम है, वह यही (तीनों) हैं। जो कुछ जाना हुआ है, वह वाणी का रूप है, क्योंकि वाणी जानी हुई है, वाणी इसकी वह (विज्ञातवस्तु) बनकर रक्षा करती है * ॥ ८ ॥

यत् किञ्च विजिज्ञास्यं, मनसस्तद्रूपं । मनो हि विजिज्ञास्यं, मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥९॥ यत् किञ्चाविज्ञातं, प्राणस्य तद्रूपं । प्राणो ह्यविज्ञातः, प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ १० ॥

जिस वस्तु के जानने की इच्छा होनी चाहिये, वह मन का रूप है। क्योंकि जिसके जानने की इच्छा होनी चाहिये, वह मन है। मन वह

---

* हर एक विज्ञात वस्तु वाणी का रूप है, जो पुरुष वाणी की इस विभूति को जानता है, उस पुरुष को जो वस्तुएं विज्ञात हो चुकी हैं, उन से जो लाभ होता है, वह वास्तव में वाणी ही उस को उस वस्तु के रूप में लाभ पहुंचाती है, क्योंकि ये वस्तुएं वाणी द्वारा ही जानी गई हैं ॥

(विजिज्ञास्य वस्तु) बनकर इसकी रक्षा करता है *॥९॥ जो कुछ अविज्ञात (बेमालूम) है, वह प्राण का रूप है, क्योंकि प्राण अविज्ञात है। प्राण वह (अविज्ञात) बनकर इसकी रक्षा करता है † ॥१०॥

सं०—अब वाणी, मन और प्राण का समष्टिरूप दिखलाते हैं;—

तस्यैवाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः। तद् यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥११॥

उस वाणी का (जो प्रजापति का अन्न है) शरीर पृथिवी है, यह अग्नि ज्योतिरूप (उसकी जोत) है। सो जितनी बडी ही यह वाणी है, उतनी ही पृथिवी है, उतनी ही यह अग्नि है ‡ ॥११॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं, ज्योतीरूपमसावादित्यः। तद् यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यः। तौ मिथुन‌ँसमैतां, ततः प्राणोऽजायत, स इन्द्रः स एषोऽसपत्नः। द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

---

* मनुष्य को जो नया २ ज्ञान लाभ करने की इच्छा लगी रहती है, यह मन ही की चेष्टा है, मन इस भान्ति आत्मा का भला करता है ॥

† जिस तरह पिता बेमालूम ही पुत्र का भला करता है, इसी तरह प्राण बेमालूम ही आत्मा का भला करता है, जगत् में जो कोई वस्तु इसप्रकार मनुष्य का भला करती है, वह प्राण का रूप है ॥

‡ यहां वाणी का समष्टि स्वरूप दिखलाया है। वाणी में जो शब्दों के प्रकाश करने की शक्ति है, वह यह अग्नि है "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्"—अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हुई (ऐत०उप०१।२) सो यह अग्नि सारी पृथिवीमें पूर्ण है, इसलिये वाणी समष्टिरूप में उतनी है, जितनी कि यह अग्नि वा पृथिवी है। इसी प्रकार आगे मन और प्राण का भी समष्टिरूप जानो ॥

अब इस मन का शरीर द्यौ है, वह सूर्य ज्योतिरूप है। सो जितना ही मन है, उतना द्यौ है, उतना वह सूर्य है। वे दोनों (अग्नि और सूर्य) जोड़े संगत हुए, तब प्राण (वायु) उत्पन्न हुआ, और वह इन्द्र है,* और वह विना शत्रु (प्रतिपक्षी) के है। निःस्सन्देह दूसरा (अपना सानी) शत्रु (प्रतिपक्षी) होता है, जो इस (रहस्य) को जानता है, उसका शत्रु (प्रतिपक्षी) नहीं होता है ॥ १२ ॥

अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रः। तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः। त एते सर्वएव समाः सर्वेऽनन्ताः। स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तं स लोकं जयति। अथ यो हैताननन्तानुपास्ते, अनन्तं स लोकं जयति ॥१३॥

अब इस प्राण का शरीर जल है, † और वह चन्द्र ज्योतिरूप है। सो जितनाही प्राण है उतनाही जल है उतनाही वह चन्द्र है सो ये सारे ही बराबर हैं, सारे ही अनन्त हैं ‡। वह जो इनको अन्तवाला मानकर उपासता है, वह अन्तवाले लोक को ही जीतता है, पर जो इनको अनन्त मानकर उपासता है, वह अनन्त लोक को जीतता है § ॥ १३ ॥

---

* देखो निरुक्त (७ । १)

† जहां जल है, वहां जीवन है, इसीलिये जलका नाम जीवन है॥

‡ व्यष्टिरूप में ये अन्त वाले हैं और समष्टिरूप में अनन्त हैं॥

§ समष्टि स्वरूप में मन वाणी और प्राण सारे व्यापक हैं और इसी लिये इनका अन्त (हद) नहीं हैं॥

संगति—प्राण की समष्टिरूप में जल और चन्द्र के साथ एकता बतलाई है। अब उसी चन्द्र को विराट्रूप वर्णन करते हैं:—

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः। तस्य रात्रय एव पञ्चदश कलाः,ध्रुवैवास्य षोडशी कलाः। स रात्रिभिरेवाच पूर्यतेऽप च क्षीयते। सोऽमावस्यां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते। तस्मादेताꣳरात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यात्, अपि कृकलासस्य, एतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४ ॥

सो यह (चन्द्र) वरस वन कर प्रजापति (विराट्) है, जिसकी सोलह कला हैं। रात्रियें (१५ तिथियें) उसकी पन्द्रह कला हैं। अटल रहने वाली(ध्रुवा)इसकी सोलहवीं कला है * वह रात्रियों(तिथियों) से ही पूर्ण होता है और क्षीण होता है † वह अमावस्या की रात्रि को इस सोलहवीं कला द्वारा हरएक प्राणधारी में प्रवेश कर फिर प्रातःकाल उत्पन्न होता है। इसलिये इस रात्रि (अमावस्या) को इसी (चन्द्र) देवता की पूजा के लिये किसी प्राणधारी के प्राण को न काटे; छिपकली के भी ॥१४॥

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽय मेव स

---

* अमावस्या के दिन जो चांद की कला अदृश्य रहती है ॥

† शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से लेकर पौर्णमासी तक चन्द्रमा एक २ कला से प्रतिदिन बढ़ता है। और कृष्णपक्ष में क्रमशः एक २ कला से घटता है, यहां तक कि अमावास्या को उसकी एक अटल कला अदृश्य रह जाती है ॥

योऽयमेवंवित्पुरुषः। तस्य वित्तमेव पंच दशकला, आत्मैवास्य षोडशी कला। स वित्तेनैवाचपूर्यतेऽपचक्षीयते। तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं। तस्माद् यद्यपि सर्वज्यानिं जीयते,आत्मना चेज्जीवाति, प्रधिनाऽगादित्ये वाऽऽहुः॥ १५ ॥

निःसन्देह वह सोलह कला वाला प्रजापति, जो वत्स है, वह यही है, जो यह इस विद्या का जानने वाला पुरुष है। धन ही उसकी (बढ़ने घटने वाली) पन्द्रह कला हैं, आत्मा (अपना आप, शरीर) ही इसकी सोलहवीं कला है। वह धन से ही पूर्ण होता है और क्षीण होता है। सो यह (पहियेकी) नाभि * है जो यह आत्मा (शरीर) है और धन प्रधि है। इसलिये यद्यपि वह हर एक वस्तु को खो देताहै, पर यदि वह आत्मा से जीता है, तो (लोग) यही कहते हैं, कि यह प्रधि से जाता रहा है (जो फिर पूरी की जासक्ती है)॥ १५ ॥

यद्यपि धन से ही मनुष्य बढ़ता है और घटता है, पर धन उन कलाओं की नाईं है, जो वार २ चन्द्र को पूर्ण करती हैं, और क्षीण करती हैं। मनुष्य स्वयं उस ध्रुव कला की नाईं है, जो सदा बनी रहती है, और जिस के चारों ओर फिर सारी कलाएं इकट्ठी हो जाती हैं। अथवा धन जिस चक्र की प्रधियें हैं, मनुष्य स्वयं उसी चक्र की नाभि है, नाभि प्रतिष्ठित रहती है और प्रधियें टूटती और लगती रहती हैं॥

* नाभि=पहिये की नाफ। प्रधि=गोल पहिया बनाने में जो छोटे २ डंडे लगाए जाते हैं, वह हर एक डंडा प्रधि कहलाता है॥

सं०-मनुष्य को जो धनमें इच्छा है,उसका फल कर्म है और जो स्त्री में इच्छा है उसका फल पुत्र है, अब कर्म, पुत्र और विद्या का जो फल है, उसको अलग २ दिखलाते हैं ॥

अथ त्रयो वाव लोका, मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति । सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा । कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः । देवलोको वै लोकानाᳰश्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशᳰसन्ति ॥ १६ ॥

फिर तीन ही लोक हैं, मनुष्यलोक (मनुष्यों का लोक) पितृलोक (पितरों का लोक) और देवलोक (देवताओं का लोक) सो इस मनुष्य लोक को केवल पुत्र से ही जीत सक्ते हैं, किसी दूसरे कर्म से नहीं । कर्म से पितृलोक को, और विद्या से देवलोक को (जीत सक्ते हैं) । निःसन्देह देवलोक सब लोकों में से श्रेष्ठ है, इसलिये विद्या (ज्ञान) की प्रशंसा करते है ॥ १६ ॥

सं०-यह लोक पुत्र से कैसे जीता जाता है ? यह दिखलाते हैं:-

अथातः संप्रत्तिः—यदा प्रैष्यन् मन्यते,अथ पुत्रमाह 'त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञस्त्वं लोक' इति । स पुत्रः प्रत्याह,'अहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक' इति । यद्वैकिञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता । ये वै केच यज्ञास्तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येकता । ये वै के च लोकास्तेषां सर्वेषां लोक इत्येकता । एतावद्वा इदᳰसर्वं एतन्मा सर्वᳰसन्नयमितोऽभुनजदिति, तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः । तस्मादे

नमनुशासति, स यदेवंविदस्माल्लोकात् प्रैति, अथैभिरेव प्राणैःसह पुत्रमाविशति। स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाऽकृतं भवति, तस्मादेनꣳसर्वस्मात् पुत्रो मुञ्चति, तस्मात् पुत्रोनाम। सपुत्रेणैवास्मिँ लोके प्रतितिष्ठति, अथैन मेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥ १७ ॥

अब इसके आगे सम्प्रत्ति * (कहते हैं)—जब मनुष्य समझता है, कि मैं मरने वाला हूं, तब वह पुत्र को कहता है, 'तू ब्रह्म (वेद जो पिता ने पढ़ा है) है; तू यज्ञ (जो पिता से किये गए हैं) है; तू लोक (जो पिता ने जीते हैं) है। वह-पुत्र उत्तर देता है, 'मैं ब्रह्म हूं, मैं यज्ञ हूं, मैं लोक हूं' जो कुछ पढ़ा गया है, उस सारे की 'ब्रह्म' यह एकता है †। जो कोई यज्ञ हैं, उन सब की 'यज्ञ' यह एकता है। जो कोई लोक हैं, उन सब की 'लोक' यह एकता है। इतना ही यह सब कुछ है (जो पिता से किया गया है अर्थात् विद्या, यज्ञ और लोक) सो इस (पुत्र ने) यह सब कुछ बनकर इस लोक से मुझे पालना है यह (पिता

---

* सम्प्रत्ति=सौंपना, पिता अपने मरने के समय इन वचनों में पुत्र को अपना धर्म्म कर्म्म सौंप कर जाता है ॥

† 'ब्रह्म' इस एक शब्द में वह सब कुछ भरा हुआ है, जो कुछ पिता ने इस लोक में सीखा है और जो सीखना शेष रहा है। इसी प्रकार 'यज्ञ' इस एक शब्द में वे सारे यज्ञ हैं जो उसने किये हैं और जो करने हैं। और 'लोक' इस एक शब्द में वे सारे लोक हैं जो पिता ने जीते हैं और जो जीतने हैं। अब पिता इन सब के लिये पुत्र को अपना प्रतिनिधि छोड़ता है ॥

का विश्वास) है * । इसलिये उस पुत्र को, जिसको (पिता ने) यह अनुशासन कर दिया है, लोक के योग्य कहते हैं, अतएव पुत्र को अनुशासन करते हैं। वह (पिता) जो ऐसा जानने वाला है, जब वह इस लोक से चलता है, तो वह इन्हीं प्राणों (मन, वाणी और प्राण) के साथ पुत्र में प्रवेश करता है † । यदि उसने किसी छिद्र (विघ्न वा त्रुटि) से कोई काम पूरा नहीं किया होता, तो उस सारी कमी से इसको पुत्र छुड़ाता है, इसी लिये पुत्र नाम है ‡। वह अपने पुत्र के द्वारा ही इस लोक में प्रतिष्ठित=(कायम) रहता है § तब उस (पिता) में न मरनेवाले दैव प्राण (मन, वाणी, प्राण) प्रवेश करते हैं ॥१७॥

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति । सा वै दैवी वाग्, यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥१८॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति । तद्वै दैवं मनः, येनानन्द्येव भवति, अथो न शोचति१९॥

---

* यह सौंपकर पिता समझता है, कि पुत्र ने मेरे कर्तव्य को अपने ऊपर उठा लिया है ॥

† अपना सारा कर्तव्य पुत्र को सौंप दिया है, इसलिये कहा है कि पुत्र में प्रवेश करता है ॥

‡ पुत्र=पुर्+त्र-(पुर्) पूरा करना और (त्रा) बचाना अर्थात् पिता की कमी को पूरा करके उस कमी से पिता को छुड़ाता है ॥

§ जिसने अपने पुत्र को यह शिक्षा दी है, वह उस पुत्र के रूप से इसी लोक में प्रतिष्ठित है, उसको मरा हुआ नहीं समझना चाहिये, क्योंकि इस लोक में 'इसका यह दूसरा आत्मा अर्थात् पुत्र पुण्य कर्मों के लिये प्रतिनिधि है' [ऐत० उप० २ । ५]

पृथिवी से और अग्नि से उस (पिता) में दैवी वाणी प्रवेश करती है * दैवी वाणी सचमुच वह है, जिस से वह जो २ कुछ कहता है वही हो जाता हैं॥ १८ ॥ द्यौ से और सूर्य से उस में दैव मन प्रवेश करता है, दैवमन सचमुच वह है, जिस से वह केवल आनन्दित रहता है कभी शोक में नहीं पड़ता ॥१९॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्चदैवःप्राण आविशति। सवैदैवःप्राणो यःसंचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथते,अथो न रिष्यति। स एवंवित् सर्वेषां भूताना मात्मा भवति। यथैषा देवतैवं। स यथैतां देवताꣳसर्वाणि भूतान्यवन्ति एवꣳहैवं विदꣳसर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्ति, अमैवासां तद्भति। पुण्यमेवामुं गच्छति, न हवै देवान् पापं गच्छति ॥२०॥

जलों से और चन्द्र से इसमें दैव प्राण आवेश करता है। दैव प्राण सचमुच वह है, जो चलता हुआ वा न चलता हुआ नहीं थकता है, और इसलिये नष्ट नहीं होता है। वह जो इस (रहस्य) को जानता है, वह सब भूतों का आत्मा (अपना आप) होता है। जैसाकि यह देवता (प्राण) है,इस प्रकार (वह होता है) और जैसाकि सारे प्राणधारी इस देवता=(प्राण) की रक्षा करते हैं,इसी प्रकार इस रहस्य के जानने वाले की सब प्राणधारी

* दैवी वाणी पृथिवी और अग्नि स्वरूप है, जो इस व्यष्टि वाणी का उपादान है। इसी प्रकार दैव मन और दैव प्राण हैं। अपने संकल्पों के संस्कार रखने वाले मन वाणी और प्राण को पिता अब अपने पुत्र में संचार कर देता है और पिताको अब ये दैव प्राण मिलते हैं॥

रक्षा करते हैं। जो कुछ कि ये प्रजाएं शोक करती हैं, वह (शोक करना) इन (प्रजाओं) के साथ ही होता है। उसको केवल पुण्य ही पहुंचता है, निःसन्देह देवताओं को पाप नहीं पहुंचता *॥२०॥

अथातो व्रत मीमाꣳसा। प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे। तानिसृष्टान्यन्योऽन्येनास्पर्धन्त। वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे;द्रक्षाम्यहमिति चक्षुः;श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रम्;एवमन्यानि कर्माणि यथा कर्म। तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे,तान्याप्नोत,तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध। तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्, श्राम्यति चक्षुः, श्राम्यति श्रोत्रम्, अथेममेव नाप्नोद्, योऽयं मध्यमः प्राणः। तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठः, यः संचरꣳश्चा संचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति। इ-

---

* इस रहस्य का जानने वाला यद्यपि सब का आत्मा [अपना आप] बन जाता है, पर उन के शोक दुःख से लिप्त नहीं होता, क्योंकि देवताओं के पास पाप की पहुंच नहीं, जिस का फल उन को शोक हो। वे केवल पुण्यात्मा हैं और इसलिये एकमात्र आनन्द भोगते हैं। यह जीवन की सब से उच्च अवस्था है कि मनुष्य सब का आत्मा बनकर सब के भले में तत्पर रहे, उनके शोक और दुःख मिटाए, पर आप शोक और दुःख में न पड़े। एक धार्मिक पुरुष का चित्त दूसरों के दुःख में दुःखी होता है। किन्तु सच्चा धार्मिक वह है, जो अपनी दैवी शक्तियों से दूसरों के दुःखों को दूर कर देता है, पर उसको संकट नहीं सताते, बल्कि वह उनके संकट काटता हुआ आनन्द से भरपूर रहता है॥

न्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति। त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्, तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति। तेन वाव तत् कुलमाचक्षते, यस्मिन् कुले भवति, य एवं वेद। य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यति, अनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥२१॥

अब आगे व्रत की मीमांसा * (करते हैं) प्रजापति ने कर्मों (कर्म करने वाले इन्द्रियों) को रचा। वे जब रचेगए, तो उन्होंने एक दूसरे के साथ स्पर्धा की (अपने काम में एक दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयत्न किया) वाणी ने (व्रत) लिया, कि मैं बोलती ही रहूंगी (अपने बोलने के धर्म को कभी बन्द नहीं करूंगी) ; नेत्र ने (व्रत लिया कि) मैं देखता रहूंगा, श्रोत्र ने व्रत लिया, कि मैं सुनता रहूंगा। इसी प्रकार दूसरे कर्मों (इन्द्रियों) ने भी अपने २ कर्म के अनुसार (व्रत लिया)। उन को मृत्यु ने थकावट (का रूप) बनकर वश कर लिया, और पकड़ लिया और पकड़ कर उनको (अपने काम से) रोक दिया। इसलिये वाणी थक ही जाती है, आंख थक जाती है, कान थक जाता है। पर (मृत्यु ने) केवल इसको नहीं पकड़ा, जो यह मध्यम प्राण (मुख्य प्राण) है। (तब उसको) उन (इन्द्रियों) ने जानने का प्रयत्न किया (और कहा) निःसन्देह यह हम में से श्रेष्ठ है, जो चलता हुआ और न चलता हुआ न थकता है और न नष्ट होता

* व्रत की मीमांसा=व्रत का विचार, अर्थात् इस व्यष्टि समष्टि में कौन अपने व्रत को दृढ़ धारण किये हुए है, जिसकी उपासना, जिसका व्रत हमें धारण करना चाहिये ॥

है। अच्छा, हम सारे इसी का रूप बन जाएं'। सो वे सारे उसी का रूप बन गए, इस कारण से, वे (इन्द्रिय) इससे=(प्राण के नाम से) बोले जाते हैं अर्थात् प्राण। जो इस (रहस्य) को जानता है, वह जिस कुल में होता है, उस (के नाम) से वह कुल बोला जाता है। और जो इस (रहस्य) के जानने वाले के साथ स्पर्धा (रशक) करता है, वह सूख जाता है और सूखकर अन्ततः=(आखिरकार) मरजाता है। यह अध्यात्म है=(शरीर के सम्बन्ध में विचार है) ॥ २१ ॥

सं०—अथ अधिदैवत (देवताओं के सम्बन्ध में) कहते हैं—

अथाधि दैवतं। ज्वलिष्याम्येवाह मित्यग्नि- र्,तप्स्याम्यहमित्यादित्यः, भास्याम्यहमितिचन्द्रमाः, एवमन्या देवता यथा दैवतं। सयथा प्राणानां मध्यमः प्राणः, एवमेतासां देवतानां वायुः। म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः। सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः॥२२॥

मैं जलती ही रहूंगी,यह अग्नि ने (व्रत) लिया, मैं तपता रहूंगा,यह सूर्य ने;मैं चमकता रहूंगा, यह चन्द्रमा ने; इसी प्रकार दूसरे देवताओं ने अपने २ कर्म अनुसार (व्रत लिया)। सो जैसा प्राणों में मध्यम प्राण (था) इसी प्रकार इन देवताओं में वायु (रहा)। दूसरे देवता अस्त होजाते हैं, पर वायु नहीं। सो यह अस्त न होने वाला देवता है, जो वायु है ॥ २२ ॥

अथैष श्लोको भवति*—"यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र

---

* यह एक ही श्लोक दो टुकड़ों में पढ़ागया है। पहला आधा पढ़कर उसके साथ ही उपनिषद् ने उसकी व्याख्या करदी है, और फिर दूसरा आधा पढ़कर उसके साथ उसकी व्याख्या करदी है श्लोक का हिस्सा 'अन्योक्ति' के अन्दर है, इसी प्रकार हिन्दी व्याख्या में है॥

च गच्छाति"इति। प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति। "तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उश्वः" इति। यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त, तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् प्राण्याच्चैवापान्याच्च,नेन्मा पाप्मा मृत्युरा-प्नुवदिति। यद्यु चरेत् समापिपायिषेत्, तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यꣳसलोकतां जयति ॥२३॥

अब (इस विषय में) यह श्लोक है—
'जिससे सूर्य उदय होता है और जिसमें अस्त होता है' निःस-न्देह यह प्राण मे उदय होता है, और प्राण में अस्त होता है। 'देवताओं ने उस (प्राण) को अपना धर्म बनाया वही आज है, वही कल भी' जो (व्रत) इन्होंने उस समय धारण किया था, उसी को अब कररहे हैं। इसलिये चाहिये कि मनुष्य एक ही व्रत का आचरण करे। सांस बाहर छोडे और सांस खींचे, न हो कि पाप जोकि मौत है वह मुझे पकड़ले *। और यदि (व्रत का) आचरण करे, तो उसको पूरा करने की इच्छा करे, ऐसा करने से वह इस देवता (प्राण) के सायुज्य और सलोकता को जीतता है ॥ २३ ॥

छटा ब्राह्मण—

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म। तेषां नाम्नां वागित्येतदेषा-

* प्राण जिस प्रकार सांस छोड़ने और खींचने के अपने काम को बन्द नहीं करता, इस प्रकार अपने व्रत को धारण करे, क्योंकि व्रत को न निवाहना ही पाप है और पाप ही मृत्यु है ॥

मुक्थम्,अतोहि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां ँसाम, एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम्, एतदेषां ब्रह्म, एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ १ ॥

निःसन्देह यह (जो कुछ है) त्रिक है (तीन वस्तुएं हैं) नाम रूप और कर्म। उन में से नामों (का वर्णन करते हैं)—वाणी इनका उक्थ है, क्योंकि इसी से सारे नाम निकले हैं। यह इनका साम है, क्योंकि यह सारे नामों के बराबर (सम) है। यह इन का ब्रह्म है क्योंकि यह सारे नामों को सहारा देती है * ॥१॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थम्,अतोहि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्ति, एतदेषां साम,एतद्धि सर्वै रूपैःसमम्, एतदेषां ब्रह्म,एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्त्ति ॥२॥

अब रूपों, (शकलों) का (वर्णन करते हैं) नेत्र इनका उक्थ है, क्योंकि इसी से सारे रूप निकलते हैं। यह इन का साम है, क्योंकि यह सारे रूपों के बराबर है, यह इन का ब्रह्म है, क्योंकि यह सारे रूपों को सहारा देता है ॥ २ ॥

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषा मुक्थम्,अतोहि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्ति, एतदेषां साम,एतद्धि सर्वैः कर्मभिः समम्,एतदेषां ब्रह्म,एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्त्ति।

---

* उक्थ=ऋचाओं का समूह। यहां असली तत्त्व से अभिप्राय है, जो नामों का मूल है। साम=सामवेद का गीत। यहां बराबर के अर्थ से अभिप्राय है। ब्रह्म=प्रार्थना का मन्त्र, यहां सहारा देने वाले से अभिप्राय है॥

तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा, आत्मो एकः सन्नेतत् त्रयं। तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं। प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं, ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥ ३ ॥

अब कर्मों का, शरीर इनका उक्थ है, क्योंकि इस से सारे कर्म उत्पन्न होते हैं। यह इन का साम है, क्योंकि यह सारे कर्मों के बराबर है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यह सारे कर्मों को सहारा देता है ॥

सो यह तीन हुआ (नाम,रूप,कर्म) एक है अर्थात् यह आत्मा* और आत्मा एक हुआ यह तीन है। सो यह अमृत है जो सत्य से ढपा हुआ है। निःसन्देह प्राण अमृत है, नाम और रूप सत्य हैं, उन दोनों मे प्राण ढपा हुआ है ॥ ३ ॥

दूसरा अध्याय पहला ब्राह्मण (अजातशत्रु ब्राह्मण)

संगति—पहले अध्याय में मुख्य करके प्राण का और विराट् का वर्णन किया है। अब इस अध्याय में प्रधानतया ब्रह्मविद्या का वर्णन है। यह वर्णन एक पुराना सम्वाद है, जो गार्ग्य और राजा अजातशत्रु के मध्य में हुआ। गार्ग्य यद्यपि ब्राह्मण था, पर उसे ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान नहीं था, वह ब्रह्म को सूर्य चन्द्र आदि व्यष्टि में ही उपासता था, जो एक सीमा वाला है। और अजातशत्रु यद्यपि क्षत्रिय था, पर वह ब्रह्म को पूर्णतया जानता था, वह जानता था, कि ब्रह्म सर्वान्तरात्मा है॥

दृप्त बालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस। स होवाचाजातशत्रुं काश्यं 'ब्रह्म ते ब्रवाणीति'। स होवा

---

* आत्मा=शरीर (शंकराचार्य्य) ॥

चाजातशत्रुः, 'सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो, जनको जनक इति वै जना धावन्ति'इति ॥ १ ॥

*बलाका का पुत्र गार्ग्य भारी विद्वान् और अभिमानी पण्डित था। उसने काशी के(राजा)अजातशत्रु को कहा,मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूंगा। अजातशत्रु ने कहा (तुम्हारे) इस वचन के लिये हम हजार (गौएं) देते हैं। क्योंकि सब लोग जनक जनक कहते हुए भागे जाते हैं † ॥ १ ॥

सहोवाच गार्ग्यः,'य एवासावादित्ये पुरुषः,एतमेवाहं ब्रह्मोपासे'इति। सहोवाचाजातशत्रुः, 'मा मैतस्मिन् संवदिष्ठाः। अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेतिवा अहमेतमुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥ २ ॥

* कौषीतकि उपनिषद् अध्याय ४ से मिलाओ ॥

† जनक एक बड़ा प्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता और उदार राजा था, इस लिये सारे विद्वान् लोग उसी की सभा में इकट्ठे होते जाते थे। इस लिये यह कहा है कि लोग जनक २ कहते हुए उसी की ओर भागे जाते हैं, सुनने वाले भी और सुनाने वाले भी। सो अजातशत्रु उस को सहस्र गौएं इतनी बातके लिये ही देता है, कि इसने जनक की तरफ न भाग कर मुझे उपदेष्टव्य समझा है। अजातशत्रु चाहता है कि कोई पूरा विद्वान् उसको मिले और वह उसको बहुत कुछ दे, क्योंकि सारे विद्वान् लोग जनक की ओर ही भागे जाते हैं, और उसी की सभा में रहते हैं। यद्वा यहां दूसरा जनक शब्द पिता के अर्थ में है, पिता अर्थात् रक्षा करने वाला, वा ब्रह्मविद्या का सिखलाने वाला ॥

उस गार्ग्य ने कहा—'वह पुरुष जो सूर्य में (और नेत्र में*) है, मैं इसी को ही ब्रह्म (के तौर पर) उपासता हूं। अजातशत्रु ने(उसे) कहा 'नहीं नहीं' इस विषय में मुझे न बतलाओ=(मैं यह पहले ही जानता हूं)' मैं इसको (सूर्य में स्थित पुरुषको)निःसंदेह ऐसा समझकर उपासता हूं;कि यह सब से ऊपर स्थित है, सब प्राणियों का सिर है और राजा है'। जो इसको ऐसा जानकर उपासता है, वह ऊपर स्थित (श्रेष्ठ, बड़ा) होता है, सब प्राणियों का मूर्धा (शिरोमणि) होता है, राजा होता है † ॥ २ ॥

स होवाचगार्ग्यः,'य एवासौ चन्द्रे पुरुषः,एत मेवाहं ब्रह्मोपासे'इति। स होवाचाजातशत्रुः,'मामै तस्मिन् संवदिष्ठाः,बृहत् पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अह-मेतमुपासे'इति। स य एतमेवमुपास्ते,अहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति, नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

गार्ग्य ने कहा 'यह जो चन्द्र में (और मन में) पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने कहा 'नहीं नहीं' इस विषय में मुझे न बतलाओ। मैं इसको निःसन्देह एक बड़ा, श्वेत वस्त्रों वाला, सोम, राजा समझ कर उपासता हूं'। जो इस को ऐसा जान कर उपासता है, (उस के घर) दिन प्रति दिन

---

* गार्ग्य के सारे वचनों की व्याख्या में स्वामि शंकराचार्य ने एक २ अध्यात्म अर्थ (जैसे यहां नेत्र में) अपनी ओर से बढ़ा दिया है, उसको हमने बन्धनी के अन्दर लिख दिया है ॥

† "तं यथा यथोपासते तदेव भवति"=उसको जैसे २ उपासते हैं, वही होता है ॥

सोम रस बहता है और अधिक बहता है, * और इस का अन्न क्षीर्ण नहीं होता ॥ ३ ॥

स होवाचगार्ग्यः, 'य एवासौ विद्युति पुरुषः, एत मेवाहं ब्रह्मोपासे' इति । सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामै तस्मिन् संवदिष्ठाः, तेजस्वीति वा अह मेतमुपासे' इति । स य एतमेवमुपास्ते, तेजस्वी ह भवति,तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥ ४ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'यह जो विद्युत (बिजली) (और हृदय में) पुरुष है मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं । अजातशत्रु ने कहा, 'नहीं नहीं' इस विषय में मुझे न बतलाओ, मैं इसको निःसन्देह तेजस्वी जानकर उपासता हूं' । जो इसको इस प्रकार उपासता है वह तेजस्वी होता है और उसकी सन्तान तेज वाली होती है ॥४॥

सहोवाचगार्ग्यः,'य एवायमाकाशे पुरुषः,एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति । सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः,पूर्णमप्रवर्तीति वा अह मेतमुपासे' इति । स य एतमेवमुपास्ते,पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात् प्रजोद्वर्तते ॥ ५ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'वह जो आकाश में (और हृदय के आकाश में) पुरुष है, मैं उसी को ब्रह्म उपासता हूं' । अजातशत्रु ने कहा; 'नहीं नहीं' इस विषय में मुझे मत बतलाओ, मैं निःसन्देह इस को पूर्ण और न मिटने वाला ऐसा मान कर उपासता हूं' । जो

---

* सुत और प्रसुत शब्दों से मुख्य और गौण सोमयज्ञों से तात्पर्य है । मुख्य को प्रकृति और गौण को विकृति कहते हैं,अर्थात् दोनों प्रकार के सोमयज्ञ उस उपासक के घर होते हैं ॥

इसको इस प्रकार उपासता है,वह सन्तान से और पशुओं से पूर्ण होता है, और इसे की सन्तान इस लोक से नहीं उखड़ती ॥५॥

सहोवाचगार्ग्यः, 'य एवायं वायौ पुरुषः,एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति । सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः, इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अह मेतमुपासे' इति । स य एतमेवमुपास्ते, जिष्णुर्हाप-राजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥ ६ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह वायु में (और प्राण में) पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने कहा, 'नहीं नहीं' इस विषय में मुझे नहीं बतलाओ, मैं इसको वैकुण्ठ इन्द्र, न हारने वाली सेना (मरुतों की) उपासता हूं'। जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है, वह जीतने के स्वभाव वाला,न हारने वाला, अपने शत्रुओं को जीतने वाला होता है ॥ ६ ॥

सहोवाचगार्ग्यः, "य एवायमग्नौ पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे" इति । सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः विषासहिरितिवा अहमेतमुपासे'इति । स य एत मेवमुपास्ते, विषासहिर्ह भवति, विषासहि-र्हास्य प्रजा भवति ॥ ७ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'अग्नि में (और वाणी में) जो पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने (उसे) कहा। 'नहीं नहीं' मुझे यह नहीं बताओ, मैं इसको बड़ा सहारने वाला (बड़ी शक्ति वाला) ऐसा मानकर उपासता हूं'। जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है, वह बड़ा सहारने वाला होता है, और इसकी सन्तान बड़ा सहारने वाली होती है ॥ ७ ॥

सहोवाचगार्ग्यः—'य एवायमप्सु पुरुषः,एत मेवाहं ब्रह्मोपासे' इति । सहोवाचाजातशत्रुः—'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः, प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपासे' इति । स य एतमेवमुपास्ते, प्रतिरूपꣳहैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपम्, अथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह जलों में (और वीर्य और हृदय में) पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने (उसे) कहा 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ, मैं इसको प्रतिरूप (ठीक सदृश) समझकर उपासता हूं,जो इसको इसप्रकार उपासता है, इसको वह वस्तु प्राप्त होती है, जो प्रतिरूप (अनुकूल) है, न कि अप्रतिरूप (प्रतिकूल)। और प्रतिरूप (अपने सदृश) ही इस से (पुत्र) उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

सहोवाच गार्ग्यः,'य एवायमादर्शे पुरुषः,एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति । सहोवाचाजातशत्रुः, 'मा मैतस्मिन् संवदिष्ठाः। रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपासे' इति । स य एतमेवमुपास्ते, रोचिष्णुर्ह भवति,रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवति,अथो यैःसंनिगच्छति, सर्वांस्तानतिरोचते

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह शीशे में पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं' अजातशत्रु ने (उसे) कहा, 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ। निःसंदेह मैं इसको चमकने वाला है ऐसा समझकर उपासता हूं'। जो इसको इस प्रकार उपासता है, वह स्वयं चमकने वाला होता है, उसकी सन्तान चमकने वाली होती

है, और जिनके साथ वह इकट्ठा रहता है, उन सब को पूरा चमका देता है ॥ ९ ॥

स होवाच गार्ग्यः,'य एवायं पश्चाच्छब्दोऽनूदेति, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे'इति। सहोवाचाजातशत्रुः,'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः,असुरिति वा अहमेतमुपासे'इति। स य एतमेवमुपास्ते, सर्वꣳहैवास्मिँल्लोक आयुरेति, नैनं पुरा कालात् प्राणो जहाति ॥ १० ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जब कोई चलता है, तो जो यह यह पीछे= (साथ) शब्द प्रगट होता है, इसी को मैं ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने कहा, 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ, मैं इसको निःसन्देह प्राण है ऐसा समझकर उपासता हूं' जो इसको इस प्रकार उपासता है, वह इस लोक में पूरी आयु को भोगता है, प्राण इसको अपने काल से पहले नहीं त्यागता है ॥१०॥

सहोवाच गार्ग्यः, 'य एवायं दिक्षु पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। स होवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः,द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेत मुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, द्वितीयवान् ह भवति, नास्माद्गणश्छिद्यते ॥ ११ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह दिशाओं में पुरुष है, मैं इसको ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने कहा 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ, निःसन्देह मैं इसको दूसरा है, (हमें) छोड नहीं देता है, ऐसा समझकर उपासता हूं'। जो इसको इस प्रकार उपासता

है, वह दूसरे वाला (साथियों वाला) होता है, इस से (इसका) गण=(समुदाय, पार्टी) अलग नहीं होता ॥११॥

सहोवाच गार्ग्यः,'य एवायं छायामयःपुरुषः,एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः, मृत्युरिति वा अहमेतमुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, सर्वꣳहैवास्मिँल्लोक आयुरेति, नैनं पुराकालान्मृत्युरागच्छति ॥ १२ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह छायामय (छाया में, और अन्धकार में) पुरुष है; मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने (उसे) कहा,'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ,मैं इसको निःसन्देह मृत्यु है ऐसा समझकर उपासता हूं'। जो इसको इस प्रकार उपासता है, वह इस लोक में पूरी आयु को पहुंचता है, और अपने समय से पहले इसको मृत्यु नहीं आती है ॥१२॥

सहोवाच गार्ग्यः'य एवायमात्मनि पुरुषः,एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः, आत्मन्वीति वा अहमेतमुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, आत्मन्वी ह भवति, आत्मन्विनी हास्यप्रजा भवति, स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥१३॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह आत्मा में * पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने (उसे) कहा, 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ, मैं इस को आत्मा वाला है ऐसा

* आत्मा में प्रजापति में, बुद्धि में, हृदय में (शङ्कराचार्य्य)

समझकर उपासता हूं'। जो इस को इस प्रकार उपासता है, वह आत्मा वाला होता है, और उसकी सन्तान आत्मा वाली होती है * तब वह गार्ग्य चुप होगया ॥ १३ ॥

सहोवाचाजातशत्रुः, 'एतावन्नू ३' इति । 'एतावद्धि' इति । 'नैतावता विदितं भवति' इति । स होवाच गार्ग्यः, 'उप त्वा यानि' इति ॥१४॥

अजातशत्रु ने कहा, 'बस इतना ही है' (उस ने उत्तर दिया) 'हां इतना ही है'। (अजातशत्रु ने कहा) 'इतने से तो (ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप) विदित नहीं होता' गार्ग्य ने कहा, तो मुझे (शिष्य बनकर) अपने पास आने की आज्ञा देवें † ॥१४॥

सहोवाचाजातशत्रुः, 'प्रतिलोमं चैतद्, यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्, "ब्रह्म मे वक्ष्यतीति" व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामि' इति, तं पाणावादायोत्तस्थौ, तौ ह पुरुषꣳसुप्तमाजग्मतुः। तमेतैर्नामभिरा मन्त्रयांचक्रे 'बृहन् पाण्डरवासः सोम राजन्' इति । स नोत्तस्थौ । तं पाणिना पेषं बोधयांचकार, सहोत्तस्थौ ॥ १५ ॥

अजातशत्रु ने कहा,'यह उलट है, कि ब्राह्मण क्षत्रिय के पास आए, "इसलिये कि यह मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा"। सो मैं तुझे यूंही (उपनयन के बिना ही) निवेदन करूंगा, यह कहकर उसको हाथ से पकड़ कर उठ खड़ा हुआ। अब वे दोनों एक सोए हुए पुरुष के पास आए।

---

* आत्मा वाला, जिसका आत्मा अपने वश में है।

† अक्षरार्थ है, मैं तेरे पास पहुंचूं अर्थात् तुझ से उपनीत होऊं, तुम मेरा उपनयन करो। उपनयन=गुरु के पास ले जाना। उपयान=गुरु के पास जाना॥

उसको इन नामों से बुलाया, 'हे बड़े, श्वेत वस्त्रों वाले, सोम, राजन्' * वह नहीं उठा, उसको हाथ से मलकर जगाया, वह उठ खड़ा हुआ॥

स होवाचाजातशत्रुः, 'यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद्, य एष विज्ञानमयः, क्वैष तदाऽभूत् ? कुत एतदागाद्' इति । तदुह न मेने गार्ग्यः ॥ १६ ॥

अजातशत्रु ने कहा, जब यह पुरुष, जो विज्ञानमय है, इस तरह (बेखबर) सोया हुआ था, तब कहां था ? और कहां से वह इस तरह लौटकर आया ? गार्ग्य ने यह नहीं समझा ॥ १६ ॥

सहोवाचाजातशत्रुः, 'यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद्, य एष विज्ञानमयः पुरुषः, तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते । तानि

---

* गार्ग्य ने पूर्व चन्द्रमा में जिस पुरुष का वर्णन किया है, उस को ये नाम दिये गये हैं, यहां सोए पुरुष को इन नामों से बुलाने में क्या अभिप्राय है, यह मेरी समझ में नहीं आया । स्वामि शङ्कराचार्य लिखते हैं, कि गार्ग्य ने प्राण को ही देह में कर्त्ता भोक्ता समझा था, और चन्द्र आदि में जिस पुरुष का वर्णन है, वह प्राण है । अब अजातशत्रु का सोए पुरुष के पास जाकर इन नामों से बुलाने में यह अभिप्राय है, कि यदि प्राण भोक्ता होता, तो प्राण तो सोने की अवस्था में भी चल रहा है, वह क्यों न अपने नामों को सुन लेता इत्यादि ॥ यहां बृहदारण्यक में गार्ग्य ने सब से पहले आदित्य पुरुष का वर्णन किया है, फिर चन्द्र पुरुष का । पर कौषीतकि में सब से पहले चन्द्र पुरुषका वर्णन है । पर अजातशत्रु ने सोए पुरुष को जिन नामों से बुलाया है, वे दोनों उपनिषदों में समान हैं अर्थात् चन्द्र के नाम हैं, इस से प्रतीत होता है, कि बृहदारण्यक के संग्रह में कुछ भेद हुआ है ॥

यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम । तद्गृहीत एव प्राणो भवति, गृहीता वाग्, गृहीतं चक्षुः, गृहीतं श्रोत्रम्, गृहीतं मनः ॥ १७ ॥

अजातशत्रु ने कहा, 'जहां यह पुरुष, जो यह विज्ञानमय है, इस तरह सोया हुआ था, वहां वह सारे इन्द्रियों के विज्ञान से विज्ञान को लेकर उस में सोता है. जो यह अन्दर हृदय में आकाश है *। उन (इन्द्रियों के भिन्न २ विज्ञानों) को जब ले लेता है; तब वह पुरुष सोता है (स्वपिति) कहा जाता है †। तब प्राण (घ्राण) अन्दर पकड़ा हुआ होता है (=बाहर के गन्ध को नहीं सूंघता) वाणी पकड़ी हुई होती है,नेत्र पकड़ा हुआ होता है, मन पकड़ा हुआ होता है ॥ १७ ॥

स यत्रैतत् स्वप्न्या चरति, ते हास्य लोकाः, तदुतेव महाराजो भवति, उतेव महाब्राह्मणः, उतेवोच्चावचं निगच्छति। स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेत, एवमेवैष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥१८॥'

और जब वह स्वप्न की वृत्ति से विचरता है (स्वप्न देखता है)। तब उसके सचमुच वह लोक होते हैं (स्वप्न की दुनिया होती है)। और वह उस समय एक बड़ा राजा सा होता है, एक बड़ा

---

* आकाश=ब्रह्म (शङ्कराचार्य्य) ॥

† स्वपिति, इस का अर्थ है—सोता है । पर उपनिषद् में स्वप्नावस्था में यह पुरुष का नाम माना गया है, और इस का अर्थ यह लिया है कि 'स्वं अपीति' अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, जैसा कि उपनिषद् में ही कहा है 'स्वमपीतो भवति' ॥

ब्राह्मण सा होता है,और वह ऊपर जाता सा है और नीचे गिरता सा है। और जैसे कि कोई बड़ा राजा अपनी प्रजाओं को साथ ले कर अपनी इच्छानुसार अपने राज्य में (देश में) घूमे, इसी प्रकार यह (पुरुष) यहां स्वप्न में इन्द्रियों को (इन्द्रियों ने जो अपने२ ज्ञान उस पुरुष को दिये हैं, उन ज्ञानों को) लेकर अपनी इच्छानुसार अपने शरीर में इधर उधर घूमता है ॥ १८ ॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते,ताभिःप्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। सयथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत, एवमेवैष एतच्छेते ॥१९॥

अब,जब कि गहरी नींद में सोया हुआ होता है,और जब कुछ नहीं जानता है,उस समय,जो हिता नामी(हित करने वाली) बहत्तर हज़ार नालियें हैं जो हृदय से सारे शरीर में पहुंचती हैं,उन(नालियों) के द्वारा चल कर शरीर में सोता है। और जैसा कि कोई कुमार वा महाराज अथवा महाब्राह्मण आनन्द की पराकाष्ठा (चोटी) पर पहुंच कर सोवे, * इस प्रकार तब वह सोता है ॥ १९ ॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्, यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोका सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।

---

* छोटा बाल,महाराज और महाब्राह्मण अपनी स्वस्थ अवस्था में बड़े प्रसन्न रहते हैं,इसलिये उनका दृष्टान्त लिखा है सुषुप्ति में हर एक पुरुष वैसा प्रसन्न होता है, जैसे एक बच्चा वा राजाधिराज, अथवा महाब्राह्मण ॥

तस्योपनिषत्—सत्यस्यसत्यमिति । प्राणा वै सत्यं तेषा मेष सत्यम् ॥ २० ॥

जैसे मकड़ी तन्तु से ऊपर आती है,वा जैसे अग्नि से छोटी२ चंगाड़ियां उठती हैं, इसी प्रकार सारे इन्द्रिय, सारे लोक, सारे देवता,सारे प्राणधारी,इस आत्मा से उठते हैं। उसकी(आत्मा की) उपनिषद् (सच्चा नाम) है 'सत्य का सत्य', निःसन्देह इन्द्रिय सत्य हैं, और यह (आत्मा) उन (इन्द्रियों) का सत्य है ॥ २० ॥

दूसरा ब्राह्मण (शिशु ब्राह्मण)

यो ह वै शिशुꣳसाधानꣳसप्रत्याधानꣳसस्थूणꣳसदामं वेद, सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि । अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः, तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम ॥ १ ॥

जो छोटे बच्चे को उसकी जगह के साथ,उसकी अलग२ जगह=(खाने)के साथ,उसके खूंटे के साथ और उसकी रस्सीके साथ जानता है,वह अपने साथ द्वेष करने वाले सात शत्रुओं*को दूर करदेता है। यह निःसन्देह छोटा बच्चा है,जो यह मध्यम (=शरीर के अन्दर) प्राण है। उस की जगह (शरीर) है, उसके अलग २ खाने यह (सिर) है, खूंटा प्राण (बल) है, रस्सी अन्न है † ॥ १ ॥

---

* दो कान, दो आंख, दो नासिका और मुख यह जो सिर के सात छेदे हैं यही सात विषयों के जानने का द्वार हैं, इन्हीं से विषयों में राग उत्पन्न होता है, और विषयों के राग मनुष्य को अन्तर्मुख होने (आत्मदर्शन) से रोकते हैं, इसलिये ये सातों शत्रु हैं ॥

† यहां प्राण को एक बछड़े के तौर पर वर्णन किया है,जिसके लिये शरीर गोशाला है, और सिर के छिद्र अलग २ खाने हैं, बल खूंटा है और खुराक रस्सी है,क्योंकि प्राण खुराक से इस देह में बंधा हुआ है

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते । तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तः । अथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यः । या कनीकना तया ऽऽदित्यः । यत् कृष्णं तेनाऽग्निः । यच्छुक्लं तेनेन्द्रः । अधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया । नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २ ॥

उस (नेत्र में स्थित प्राण) को ये सात अक्षितियें* प्राप्त होती हैं। सो जो ये नेत्र में लाल रेखाएं हैं,उनके द्वारा रुद्र इस (प्राण) को अनुगत (प्राप्त) है। और जो नेत्र में पानी है, उनसे पर्जन्य (मेघ अनुगत है)। जो काली धीरी है,उससे आदित्य(सूर्य,अनुगतहै) जो (आंख में) कृष्ण आना है, उससे अग्नि (अनुगत है)। और जो श्वेत आना है, उससे इन्द्र (अनुगत है), निचली पलक से इसके पृथिवी अनुगत है। और ऊपर की पलक से द्यौ। जो इस(रहस्य) को जानता है, उसके (घर) अन्न क्षीण नहीं होता है ॥ २ ॥

तदेष श्लोको भवति । "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्व बुध्न-स्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना"इति । 'अर्वाग्बि-लश्चसमऊर्ध्वबुध्न'इति,इदं तच्छिर एषह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। 'तस्मिन् यशोनिहितं विश्वरूपम्' इति ।

---

* न नाश होने वाली शक्तियें, देखो पूर्व १।५।१-२ यहां रुद्रादि देवताओं को अक्षिति कहा है, क्योंकि प्राण को (जिसको यहां शिशु कहा है) बार २ आहार देने से ये क्षीण नहीं होते ।

प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह । 'तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे' इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह । 'वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाने'ति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते

इस पर यह श्लोक है—*"एक चमसा† है जिसका मुंह नीचे को है और मूल (तला) ऊपर को है, उसमें हरएक प्रकार का यश रक्खा हुआ है। उसके किनारे पर सात ऋषि बैठते हैं, और आठवीं वाणी है जो कि वह वेद के द्वारा यथार्थ अनुभव करती है‡"। 'वह चमस जिसका मुंह नीचे को और मूल ऊपर को है' वह यह सिर है, क्योंकि इसका मुंह (जो वस्तुतः मुंह है) नीचे को है, और मूल (सिर का पिंजर) ऊपर को है। 'उस में हर एक प्रकार का यश रक्खा हुआ है' प्राण ही सब प्रकार का यश है, इसलिये इस वचन से प्राण का ही वर्णन किया है। 'उसके किनारे पर सात ऋषि रहते हैं' इन्द्रिय ही निःसन्देह ऋषि हैं, इसलिये इस वचन से इन्द्रियों का वर्णन किया है। 'और आठवीं वाणी है, जो वेद के द्वारा यथार्थ अनुभव करती है' क्योंकि वाणी (इन सात से अलग) आठवीं है, जो वेद के द्वारा (ब्रह्म का) यथार्थ अनुभव करती है॥३॥

उन सात ऋषियों का नाम द्वारा वर्णन करते हैं—

---

* यह मन्त्र थोडे से पाठ भेद के साथ अथर्व १०।८।९ में है।

† चमस = सोम का बर्तन, जिस में सोमरस डालते हैं, लकड़ी का एक कटोरा सा होता है। ‡ गिनती में वाणी सातवीं है, जैसा अगले खण्ड में सात ऋषि गिनाए हैं। पर वाणी के दो धर्म हैं, खाना और बोलना। खाने के धर्म को लेकर वाणी सातवीं है, और बोलने के धर्म को लेकर आठवीं है,; इसलिये कहा है 'वाणी उनमें आठवीं है, जबकि वह वेद के द्वारा यथार्थ अनुभव करती है, अर्थात् ब्रह्म का अनुभव अथवा जब वेद का उच्चारण करती है'॥

इमावेव गोतमभरद्वाजौ,अयमेवगोतमोऽयंभरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी, अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः। इमावेव वसिष्ठ कश्यपौ, अयमेव विशिष्ठोऽयं कश्यपः। वागेवात्रिः, वाचाह्यन्न मद्यते, अत्तिर्हवै नामैतद्यदत्रिरिति। सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

यही दोनों * (दोनों कान) गोतम और भरद्वाज हैं; यही (दायां कान) गोतम है, और यह (बायां कान) भरद्वाज है। यही दोनों (दोनों नेत्र) विश्वामित्र और जमदग्नि हैं,

---

* आचार्य ने अपने शिष्य को पास दिठलाकर अंगुली से इशारा करके यह उपदेश किया है, उपनिषद् में हूबहू वैसाही लिख दिया है। यह इस बात का पूरा उदाहरण है, कि उपनिषद् के उपदेश गुरु के पास जाकर सीखने के लिये थे, न कि पुस्तक पढ़कर। यहां आचार्य दोनों कानों की ओर अंगुली करके बतलाता है, कि यही दोनों गोतम और भरद्वाज हैं। और फिर दायें बायें अंगुली करके अलग २ बतलाता है; कि यह गोतम और यह भरद्वाज है, इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। यहां जो वाणी को अन्त में कहा है, इससे प्रतीत होता है, कि पहले कानों से ही आरम्भ करके वाणी तक पहुंचे है। पर "यह गोतम और यह भरद्वाज है" इस में सन्देह रहता है, कि पहले दाईं ओर अंगुली की है, वा बाईं ओर। इसीलिये स्वामि शंकराचार्य यहां लिखते हैं, कि गोतम दायां और भरद्वाज बायां है या गोतम बायां है और भरद्वाज दायां है। पर स्वभावतः पहले अंगुली दाईं ओर ही जानी चाहिये,इसलिये हमने यही एक अर्थ लिया है। स्वामि शंकराचार्य ने भी पहला अर्थ यही लिया है॥

यही (दायां नेत्र) विश्वामित्र है और यह (बायां नेत्र) जमदग्नि है। यही दोनों (दोनों घ्राण=नासिकाएं) वसिष्ठ और कश्यप हैं, यही (दायां घ्राण) वसिष्ठ है और यह(बायां)कश्यप है। वाणी अत्रि है, क्योंकि वाणी से अन्न खाया जाता है और अत्रि यह अत्ति=खाने वाले के अर्थ में है। जो इस (रहस्य) को जानता है, वह हरएक वस्तु का खाने वाला होता है और हर एक वस्तु उसका अन्न होती है ॥ ४ ॥

तीसरा ब्राह्मण (मूर्तामूर्त ब्राह्मण)

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥ १ ॥

दो ही ब्रह्म के रूप हैं * मूर्त (मूर्ति वाला) (Material) और अमूर्त (जिसकी कोई मूर्ति नहीं) (Immaterial), मरने वाला और न मरने वाला, ठहरा हुआ और चलने वाला, † सत (व्यक्त) और त्यत (वह=अप्रत्यक्ष) (अर्थात सत+त्य=सत्य)‡॥१॥

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च, एतन्मर्त्यम्, एतत् स्थितम्, एतत् सत् । तस्यैतस्य मूर्तस्य एतस्य मर्त्यस्य, एतस्य स्थितस्य, एतस्य सत एष रसः, य एष तपति । सतो ह्येष रसः ॥ २ ॥

---

* पांच भूतों के दो भेद हैं, मूर्त और अमूर्त। ये दोनों ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हैं, इसलिये ये दोनों ब्रह्म के रूप कहलाते हैं, परमात्मा का शुद्ध स्वरूप इन दोनों से परे 'नेति नेति' करके वर्णन किया है। † परिच्छिन्न (हद वाला) और अपरिच्छिन्न (शंकराचार्य) ‡ जो मूर्त है वह मरने वाला है, ठहरा हुआ है और प्रत्यक्ष है, और जो अमूर्त है, वह मरने वाला नहीं, चलने वाला है और अप्रत्यक्ष है ॥

वायु और आकाश के सिवाय सब कुछ मूर्त है, यह मरने वाला है, यह स्थित है, यह सत् (व्यक्त है, साफ है, जिस की एक बन्धी हुई शकल है)। यह जो मूर्त है, मर्त्य है, स्थित है और सत है, इसका यह रस (निचोड़, सार) है, जो यह तपता है (अर्थात् सूर्य)। क्योंकि यह सत का रस है ॥२॥

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च,एतदमृतम्,एतद्यद्, एतत् त्यत्। तस्यैतस्यामूर्तस्य,एतस्यामृतस्य, एतस्य यतः,एतस्य त्यस्यैष रसः,य एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, त्यस्य ह्येष रसः, इत्यधिदैवतम् ॥३॥

अब, जो वायु और आकाश है,यह अमूर्त है. यह अमृत है, यह चलने वाला है, (=जो कोई नियत शकल नहीं रखता), यह वह है (अव्यक्त है,छिपा हुआ है) इसका यह रस है, जो इस मण्डल (सूर्य मण्डल) में पुरुष (समष्टि सूक्ष्म शरीर) है। क्योंकि यह उस (छिपे हुए का) रस है, यह अधिदैवत (देवताओं के सम्बन्ध में) है ॥ ३ ॥

अथाध्यात्मम्—इदमेवमूर्तं,यदन्यत् प्राणाच्च,यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः,एतन्मर्त्यम्,एतत् स्थितम्,एतत् सत्। तस्यैतस्य मूर्तस्य,एतस्य मर्त्यस्य,एतस्य स्थितस्य,एतस्य सत एष रसः, यच्चक्षुः, सतो ह्येष रसः ॥४॥

अब अध्यात्म (वर्णन) है। प्राण के, और जो यह शरीर के अन्दर आकाश है इनके सिवाय जो कुछ है यह मूर्त है, यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह सत है। यह जो मूर्त है, स्थित है,

सत् है इसका यह रस (निचोड, सार) है, जो नेत्र है, क्योंकि सत् का यह रस है ॥ ४ ॥

अथामूर्तम्—प्राणश्च, यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः, एतदमृतम्, एतद् यद्,एतत् त्यत् , तस्यैतस्यामूर्तस्य, एतस्यामृतस्य, एतस्ययतः एतस्य त्यस्यैष रसः, योऽयंदक्षिणेऽक्षिन्न पुरुषः, त्यस्य ह्येष रसः ॥ ५ ॥

अब, प्राण और शरीर के अन्दर जो आकाश है, यह अमूर्त है, यह अमृत है, यह चलने वाला है, यह वह (अव्यक्त, छिपा हुआ) है। यह जो अमूर्त है, अमृत है, चलने वाला है, वह (अव्यक्त, छिपा हुआ) है। इसका यह रस है, (निचोड़, सार)है, जो यह दाईं आंख * में पुरुष (सूक्ष्म शरीर) है, क्योंकि सद् (उस, छिपे हुए) का यह रस है ॥ ५ ॥

तस्यहैतस्य पुरुषस्य रूपम्—यथा माहारजनं वासः,यथा पाण्ड्वाविकं,यथेन्द्रगोपः,यथाऽग्न्यर्चिः,यथा पुण्डरीकं यथा सकृद् विद्युत्तं,सकृद् विद्युत्तेव हवा अस्य श्रीर्भवति, य एवं वेद। अथात आदेशो नेतिनेति। न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति। अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ ६ ॥

उस पुरुष (सूक्ष्म शरीर) का रूप (यह) है—केसर के रंग से रंगे

---

* सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) की स्थिति विशेष करके दाईं आंख में वर्णन की जाती है। स्यात् इस का कारण यह हो, कि सूक्ष्म शरीर पर दाईं आंख के द्वारा ही अधिक चित्र खिचते हैं।

हुए वस्त्र की नाईं (केसरी), भूसली ऊन की नाईं (भूमला), बीच वहूटी की नाईं (लाल), श्वेत कमल की नाईं (श्वेत), एक ही बार बिजली की चमक की नाईं (चमकता हुआ)। एकही बार सब जगह बिजली के चमकने की तरह उसकी शोभा चमकती है, जो इस (रहस्य) को जानता है *। अब आगे (ब्रह्म का) उपदेश है, नेति नेति † (=नहीं है इस प्रकार, नहीं है इस प्रकार) क्योंकि (ब्रह्म) इस प्रकार नहीं है, इस से बढ़ कर दूसरा (ब्रह्म के बतलाने का मार्ग) नहीं है। ‡ अब नाम है 'सचाई की सचाई' प्राण सचाई है (और ब्रह्म) उनकी सचाई है ॥६॥

चौथा ब्राह्मण (मैत्रेयी ब्राह्मण) §

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः 'उद्यास्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि, हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणि' इति ॥ १ ॥

---

* मनुष्य पुण्यमय, पापमय वा मिश्रित जिस प्रकार के कर्म करता है, वैसा ही रंग उसके सूक्ष्म शरीर पर चढ़ता है, मनुष्य जब मरता है, तो यह उसके कर्मों का रंगा हुआ कपड़ा (सूक्ष्म शरीर) उसके साथ जाता है ॥ यहां जो रंग उसके दिखलाए हैं, ये प्रकार दिखलाने के लिये हैं, कि मनुष्य के भले बुरे कर्मों से इस २ प्रकार वह रंगा जाता है। किन्तु यह इतने ही प्रकार के रंग नहीं हैं, क्योंकि असंख्यात वासनायें उत्पन्न होती रहती हैं। जिनका सूक्ष्म देह पर रंग चढता है ॥

† देखो ३ । ९ । २६; ४ । २ । ४; ४ । ४ । २२; ४ । ५ । १५ ॥

‡ यह नाम की उपनिषद् दो वार पीछे आई है ॥

§ इस ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने गृहाश्रम से निकलकर संन्यास में जाते समय जो मैत्रेयी को उपदेश दिया है, उसका वर्णन है। यह सम्वाद बृहदारण्यक ४ । ५ में भी कुछ थोड़े से भेद के साथ दिया है, यह भेद उस जगह के देखने से मालूम होजाएगा ॥

याज्ञवल्क्य (जब संन्यास आश्रम में जाने लगा,तो उस) ने कहा, मैत्रेयि ! मैं अब इस स्थान (गृहाश्रम) से ऊपर जाना चाहता हूं। मैं चाहता हूं, तेरा अब इस कात्यायनी (मेरी दूसरी स्त्री) के साथ फैसला करदूं (अर्थात् धन तुम दोनों को अलग२ बांटकर देदूं)॥१॥

साहोवाच मैत्रेयी 'यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् ,कथंतेनाऽमृतास्याम्' इति। नेतिहोवाच याज्ञवल्क्यः, 'यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्। अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन' इति ॥२॥

मैत्रेयी ने कहा—'भगवन्!यदि यह सारी पृथिवी धन से भरी हुई मेरी (मलकीयत)हो,तो क्या मैं इससे अमर होजाउंगी' याज्ञवल्क्य ने कहा 'नहीं,(किन्तु) जैसे उन लोगों का जीवन बीतता है,जिनके पास हर एक प्रकार के साधन उपसाधन हैं, वैसे ही तेरा जीवन बीतेगा। पर अमर होने की तो धन से कोई आशा नहीं है' ॥ २ ॥

साहोवाच मैत्रेयी 'येनाहं नामृतास्यां,किमहं तेन कुर्यां ? यदेव भगवान् वेद, तदेव मे ब्रूहि' इति ॥३॥

मैत्रेयी ने कहा—'जिस से मैं अमर नहीं हो सकूंगी, उसको लेकर मैं क्या करूंगी ? सो जो (बात) भगवान् (अमर होने की बाबत) जानते हैं, वही मुझे बतलाइये' ॥ ३ ॥

सहोवाच याज्ञवल्क्यः,'प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषसे। एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते, व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व' इति ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—"तू हमारी प्यारी है और प्रियवचन बोलती है। आ,बैठ,मैं तुझे यह खोलकर बतलाता हूं,पर मेरे बतलाने पर पूरा२ध्यान दे"

सहोवाच, 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रियाभवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राःप्रिया भवन्तिं । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳसर्वं विदितम् ॥ ५ ॥

तब उसने कहा—'हे (मैत्रेयि !) पति की कामना के लिये

पति प्यारा नहीं होता, अपितु (=बल्कि) आत्मा*की कामना के लिये पति प्यारा होता है। हे (मैत्रेयि) निःसन्देह पत्नी की कामना के लिये पत्नी प्यारी नहीं होती, अपितु आत्मा की कामना के लिये पत्नी प्यारी होती है। हे (मैत्रेयि) पुत्रों की कामना के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, अपितु आत्मा की कामना के लिये पुत्र प्यारे होते हैं। अरे (मैत्रेयि) धन की कामना के लिये धन प्यारा नहीं होता, अपितु आत्मा की कामना के लिये धन प्यारा होता है। अरे (मैत्रेयि) निःसन्देह ब्रह्म (=ब्राह्मणत्व) की कामना के लिये ब्रह्म प्यारा नहीं होता, अपितु आत्मा की कामना के लिये ब्रह्म प्रिय होता होता है। अरे (मैत्रेयि) निःसन्देह क्षत्र (=क्षत्रियत्व) की कामना के लिये क्षत्र प्यारा नहीं होता, अपितु आत्मा की कामना के लिये क्षत्र प्रिय होता है। अरे (मैत्रेयि) लोकों की कामना के लिये लोक प्यारे नहीं होते, अपितु आत्मा की कामना के लिये लोक प्यारे होते हैं। अरे (मैत्रेयि) निःसन्देह देवताओं की कामना के लिये देवता प्यारे नहीं होते, अपितु आत्मा की काकना के लिये देवता प्यारे होते हैं। अरे (मैत्रेयि) निःसन्देह प्राणधारियों की कामना के लिये प्राणधारी प्यारे नहीं होते, अपितु आत्मा की कामना के लिये प्राणधारी प्यारे होते हैं। अरे (मैत्रेयि) निःसन्देह कोई भी वस्तु उसकी कामना के लिये प्यारी नहीं होती, अपितु आत्मा की कामना के लिये हर एक वस्तु प्यारी होती है। हे मैत्रेयि! निःसन्देह आत्मा ही साक्षात् करने

---

* आनन्द तीर्थ ने यहां आत्मा से अभिप्राय परमात्मा लिया है और अर्थ किया है कि पति की इच्छा से पति प्यारा नहीं किंतु परमात्मा की इच्छा से पति प्यारा होता है, अर्थात् परमात्मा जिससे जिसको सुख दिखाना चाहते हैं, वह वस्तु उसको प्यारी लगती है।

योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदिध्यासन करने योग्य है। अरे (मैत्रेयि) आत्मा के दर्शन से श्रवण से मनन से और जानने से यह सब कुछ जाना जाता है ॥ ५ ॥

मनुष्य को अपना आत्मा ही सब से अधिक प्यारा है। और सब कुछ आत्मा के लिये प्यारा होता है। जो कुछ आत्मा के अनुकूल है, वह प्रिय है, और प्रतिकूल है, वह अप्रिय है, स्वतः न कुछ प्रिय है, न अप्रिय है। गर्मी में ठण्डी वायु सुखाती है वही सरदी में दुखाती है। सर्दी में जो धूप सुखाती है, वही गर्मी में दुखाती है। यही बात सब अनात्मवस्तुओं के लिये है। पति पुत्रादि आत्मा के अनुकूल हैं इसलिये प्यारे हैं। अर्थात पति पुत्रादि हेतु हैं आत्मा की प्रीति के, इसलिये प्यारे हैं। आत्मा किसी अवस्था में भी अप्रिय नहीं होता है, जो सर्वदा प्रिय है और सब कुछ जिसके लिये प्यारा बन जाता है, वही आत्मा देखने योग्य है। उसके देखने का उपाय यह है, कि पहले श्रुति से उसका श्रवण करो फिर युक्ति से उसका मनन करो और फिर चित्त को उसी में एकाग्र करो। उसको जान कर कोई बात जानने की शेष नहीं रहेगी ॥

ब्रह्म तं परादाद्, योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद। क्षत्रं तं परादाद्, योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद। लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद। देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद। भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद। सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। इदं ब्रह्म, इदं क्षत्रम, इमेलोकाः, इमेदेवाः, इमानि भूतानि, इदꣳसर्वं यदयमात्मा ॥ ६ ॥

ब्रह्म (ब्राह्मणत्व) उसको परे हटा देता है(कल्याण के मार्ग से गिरा देता है) जो आत्मा के सिवाय ब्रह्म (ब्राह्मणत्व) को जानता है। क्षत्र (क्षत्रियत्व) उसको परे हटा देता है, जो आत्मा के सिवाय क्षत्र को जानता है, लोक उसको परे हटा देते हैं, जो आत्मा के सिवाय लोकों को जानता है, देवता उसको परे हटा देते हैं। जो आत्मा के सिवाय देवताओं को जानता है, भूत (प्राणधारी) उसको परे हटा देते हैं, जो आत्मा के सिवाय भूतों को जानता है, सब कोई उसको परे हटा देता है, जो आत्मा के सिवाय सब कुछ जानता है। यह ब्रह्म, यह क्षत्र, ये लोक, ये देवता, ये भूत, यह सब यही है, जो कि यह आत्मा है * ॥ ६ ॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद् ग्रहणाय, दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ७ ॥

यह इस तरह है, कि जैसे दुन्दुभि पर जब चोट दी जाती है, तो उसके बाहिर के शब्दों को (अलग २) ग्रहण नहीं कर सके, पर दुन्दुभि के ग्रहण से वा दुन्दुभि को चोट देने वाले के ग्रहण से शब्द ग्रहण किया जाता है ॥ ७ ॥

स यथा शंखस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद् ग्रहणाय, शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

---

* ब्राह्मणत्वादि सभी आत्मा के लिये हैं, इसलिये उसी को जानो, उसके ज्ञान में सारे ज्ञान आजाते हैं ॥

जैसा कि शंख जब पूरा जाता है, तो उसके बाह्य शब्दों को नहीं ग्रहण कर सक्ते, पर शंख के ग्रहण से वा शंख को पूरने वाले के ग्रहण से शब्द ग्रहण किया जाता है ॥ ८ ॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद् ग्रहणाय, वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

जैसा कि वीणा जब बजाई जाती है, तो उसके बाह्य शब्दों को (अलग २) ग्रहण नहीं कर सक्ते। परन्तु वीणा के ग्रहण करने से वा वीणा के बजाने वाले के ग्रहण करने से शब्द ग्रहण किया जाता है * ॥ ९ ॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्, यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि ॥१०॥

जो आग गीली लकड़ियों से जलाई गई है, जैसा कि उस से अलग धूम (के बादल) बाहर निकलते हैं। इसी प्रकार हे (मैत्रेयि) इस बड़ी सत्ता से यह बाहर की ओर सांस लिया गया है, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्याएं, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान हैं। इसी के ही यह सांस लिये हुए हैं† ॥१०॥

---

* इन सब का अभिप्राय यह है, कि एक मुख्य वस्तु को पकड़ लेने से और किसी के पकड़ने की आवश्यकता नहीं रहती॥

† यहां बड़ी सत्ता से सारे व्याख्याकारों ने परमात्मा से अभि-

स यथा सर्वासामपाᳬसमुद्र एकामन मेवᳬसर्वेषांᳬस्पर्शानां त्वगेकायनम्,एवᳬसर्वेषां गन्धानां नासिके एकानयम्, एवंᳬसर्वेषांᳬरसानां जिह्वैकायनम्, एवं सर्वेषांᳬरूपाणां चक्षुरेकायनम्, एवᳬसर्वेषां शब्दानांᳬश्रोत्र मेकायनम्,एवं सर्वेषाᳬसंकल्पानां मन एकायनम्, एवं सर्वासां विद्यानाᳬहृदयमेकायनम्, एवं सर्वेषां कर्मणाᳬहस्तावेकायनम्, एवᳬसर्वेषामानन्दानाᳬमुपस्थ एकायनम्, एवᳬसर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनम्, एवᳬसर्वेषामध्वनां पादावेकायनम्, एवᳬसर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

जैसे सारे जलों का समुद्र एक गति (केन्द्र) है, इसी प्रकार सारे स्पर्शों की त्वचा एक गति है, इसी प्रकार सारे गन्धों का नासिकाएं एक गति हैं। इसी प्रकार सारे रसों की जिह्वा एक गति है, इसी प्रकार सारे रूपों की आंख एक गति है, इसी प्रकार सारे शब्दों की कान एक गति हैं,

---

प्राय लिया है,अर्थात् चारों वेद उससे निःश्वास की नाईं स्वभावतः प्रगट हुए हैं,इस आशय से इतिहास पुराण आदि अलग२ ग्रन्थों से अभिप्राय नहीं होसक्ता, किन्तु वेद के ही अवान्तर भेद समझने चाहियें। वेद को कहकर भी उसके अवान्तर भेद विशेष अभिप्राय से अलग कह दिये जाते हैं, जैसे यजु १८। २२ में साम के साथ उसके अवान्तर भेद बृहत् और रथन्तर अलग कहे हैं। तथापि इन शब्दों से क्या २ विषय अभिप्रेत है, ऐसा निर्धारण करने के लिये प्रमाणों का अन्वेषण करना चाहिये, स्वामि शंकराचार्य ने ये सारे ब्राह्मण के अवान्तर भेद कहे हैं॥

इसी प्रकार सारे संकल्पों की मन एक गति है, इसी प्रकार सारे ज्ञानों का हृदय एक गति है, इसी प्रकार सारे कर्मों की हाथ एक गति है, इसी प्रकार सारे आनन्दों की उपस्थ एक गति है. इसी प्रकार सारे त्यागों की पायु एक गति है, इसी प्रकार सारे मार्गों की पाओं एक गति हैं, इसी प्रकार सारे वेदों की वाणी एक गति है॥११

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदक मेवानुविलीयेत, न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात् । यतोयतस्त्वाददीत लवणमेव । एवं वा अर इदं महद्भूत मनन्तमपारं विज्ञानघन एव, एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमि' इति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

जैसे लून (नमक) का खिल्ला (ढेला) पानी में डाला हुआ पानी में ही घुल जाता है, और इसको निखेरकर नहीं ग्रहण करसके. परन्तु जहां २ से (पानी को) लियाजाए, लवण (रस) ही होगा * इसी प्रकार हे (मैत्रेयि) यह बड़ी सत्ता जिसका अन्त नहीं, जिसका पार नहीं, यह विज्ञानघन ही है (विज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं), इन भूतों से उठ कर इन्हीं में छिपजाता है, मरकर कोई संज्ञा (नाम) नहीं है, यह तुझे बतलाता हूं, हे मैत्रेयि"! इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा ॥ १२ ॥

साहोवाच मैत्रेयी 'अत्रैवमा भगवानमूमुहत्, न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति । सहोवाच ' न वा अरेऽहंमोहं ब्रवीम्यलं वा अरे इदं विज्ञानाय ' ॥१३॥

---

* देखो छान्दोग्य ६ । १३ ॥

मैत्रेयी ने कहा, 'यहां ही, मुझे भगवान् (आप) ने घबराहट में डाल दिया है (यह कहकर) कि मरकर कोई संज्ञा (नाम) नहीं है"। उसने कहा 'हे (मैत्रेयि) मैं घबराहट वाली बात नहीं कहता, यह पर्याप्त (काफ़ी) है हे (मैत्रेयि) जानने के लिये ॥ १३ ॥

यत्रहि द्वैतमिव भवति,तदितर इतरं जिघ्रति,तदितर इतरं पश्यति,तदितर इतरꣳशृणोति,तदितर इतरमभिवदति,तदितर इतरं मनुते,तदितर इतरं विजानाति,यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्,तत् केन कं जिघ्रेत्,तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं शृणुयात्, तत् केन कमभिवदेत्, तत् केन कं मन्वीत, तत् केन कं विजानीयात् ? येनेदꣳसर्वं विजानाति, तं केन विजानीयात् ? विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ॥ १४ ॥

क्योंकि जब द्वैतसा होता है,तब दूसरा दूसरे को सूंघता है,दूसरा दूसरे को देखता है,दूसरा दूसरे को सुनता है,दूसरा दूसरे को कहता है, दूसरा दूसरे को ख्याल करता है, दूसरा दूसरे को जानता है, पर जब इसका सब कुछ आत्मा ही होगया,तब किस से किस को सूंघे, किससे किसको देखे, किस से किसको सुने, किससे किसको कहे, किस से किस को ख्याल करे, किस से किसको जाने ? जिस से इस सब को जानता है, उसको किस से जाने ? हे (मैत्रेयि) जानने वाले को किस से जाने ? * ॥ १४ ॥

* बृह० उप० ४। ५ में यह विषय अधिक विस्तार के साथ आजाएगा, इसलिये यहां कोई टिप्पणी नहीं दी ॥

पांचवां ब्राह्मण (मधु ब्राह्मण *)

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु,अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु।यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो,यश्चायमध्यात्मꣳशारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः।अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम्१

यह पृथिवी सब जीवों का शहद है,और सारे जीव इस पृथिवी की शहद हैं। जो इस पृथिवी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में शरीर के अन्दर तेजोमय,अमृतमय पुरुष है। यही निःसंदेह वह है,जो यह आत्मा है,यह अमृत है,यह ब्रह्म है,यह संपूर्ण है

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मधु,आसामपां सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयःपुरुषः, यश्चायमध्यात्मꣳरैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥२॥

यह जल सब जीवों का शहद है. सारे जीव इन जलों का

---

* इस ब्राह्मण में यह वर्णन है, कि यह सृष्टि परस्पर एक दूसरे का उपकार कर रही है, पृथिवी जीते जागते जन्तुओं को जन्म देती है, और उनको आश्रय देती है,इसलिये उनका सहारा है। और यह उनके लिये बनाई गई है. इस मति से वे जन्तु इसके जन्म निमित्त भी हैं।यह उनका कार्यभी है और कारण भी है,जिसतरह शहद की मक्खियें शहद को बनाती हैं और शहद में जन्मती पलती हैं,जिस तरह पर ये एक दूसरे के लिये है, इसी तरह सारा जगत् एक दूसरे के लिये हैं, इस से प्रतीत होता है. कि इन सब के अन्दर इनका अधिष्ठाता एक अमृतमय पुरुष है । यह विद्या मधुविद्या कहलाती है, जो दध्यङ् ने अश्वियों को उपदेश की है ॥

शहद हैं। जो यह जलों में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में रेतस् (वीर्य) में पुरुष है, यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ २ ॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥३॥

यह अग्नि सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस अग्नि की शहद हैं। जो यह इस अग्नि में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में वाङ्मय (वाणी का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है॥ ३॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन् वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मं प्राण स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥४॥

यह वायु सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस वायु की शहद हैं। और जो यह इस वायु में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म में प्राण (प्राण का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह संपूर्ण है॥४॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजो-

मयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृत-
मिदं ब्रह्मेद॑सर्वम् ॥ ५ ॥

यह आदित्य (सूर्य) सारे जीवों की शहद है,सारे जीव इस आदित्य की शहद हैं। और जो यह आदित्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में चाक्षुष (=नेत्र का अधिष्ठाता) पुरुष है। यही है वह,जो यह आत्मा है,यह अमृत है,यह ब्रह्म है,यह संपूर्ण है॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मधु, आसां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयो ऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्म॑श्रौत्रः प्रातिश्रुत्क-स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमा-त्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद॑सर्वम् ॥ ६ ॥

यह दिशाएं सब जीवों की शहद हैं, सारे जीव इन दिशाओं की शहद हैं। और जो यह इन दिशाओं में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में श्रोत्र का अधिष्ठाता सुनने की शक्ति देने वाला तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥६॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मधु,अस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मि॑श्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः,यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयःपुरु-षः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद॑सर्वम्॥

यह चन्द्र सब जीवों की शहद है,सारे जीव इस चन्द्र की शहद हैं। और जो यह इस चन्द्र में तेजोमय अमृतमय पुरुष है,और जो यह

अध्यात्म में मन का अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही है वह,जो यह आत्मा है,यह अमृत है, यह ब्रह्म है,यह सम्पूर्ण है॥७॥

इयं विद्युत् सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयःपुरुषः। अयमेव सयोऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद७सर्वम्॥८॥

यह बिजली सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस बिजली की शहद हैं। और जो यह इस बिजली में तेजोमय अमृतमय पुरुष है,और जो यह इस अध्यात्म में तेजका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ ८ ॥

अय७स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मधु,अस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु, । यश्चायमस्मिन् स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्म७ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृत मिदं ब्रह्मेद७सर्वम् ॥ ९ ॥

यह गर्जने वाला (बादल) सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस गर्जने वाले की शहद हैं। और जो इस गर्जने वाले में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म में शब्दका अधिष्ठाता और स्वरका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥९॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मꣳहृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मेदममृत मिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ १० ॥

यह आकाश सारे जीवों की शहद है, सारे जीव इस आकाश की शहद हैं । और जो यह इस आकाश में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह हृदयमें आकाशका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही है वह, जो यह आत्मा है यह अमृत है यह ब्रह्म है यह सम्पूर्ण है॥१०॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमस्मिन् धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम्॥११॥

यह धर्म सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस धर्म की शहद हैं और जो यह इस धर्म में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म में धर्म का अधिष्ठाता पुरुष है * यही है वह, जो यह

---

* पूर्व कह आए हैं कि पृथिवी आदि सारे जीवों का उपकार करते हैं और सारे जीव इनका उपकार करते हैं । यह इनका परस्पर का उपकार धर्म के अधीन है । बाह्य जगत् धर्ममात्र का फल है अर्थात् सब के सांझे धर्म का फल है और भिन्न २ शरीर अपने २ निज धर्म का फल हैं । इसलिये धर्म सामान्यरूप से सारे विश्व की रचना में निमित्त है, और विशेषरूप से अलग २ शरीरों की रचना में निमित्त है, दोनों जगह पर धर्म का अधिष्ठाता वही

आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ ११ ॥

इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमस्मिन् सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मꣳसात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम्

यह सत्य * सारे जीवों की शहद है, सारे जीव इस सत्य की शहद हैं । और जो इस सत्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्ममें सत्यका अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है । यही है वह जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥१२॥

इदं मानुषꣳसर्वेषां भूतानां मधु, अस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमस्मिन् मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ १३ ॥

यह मनुष्यपन सारे जीवों की शहद है, सारे जीव इस मनुष्यपन की शहद हैं । यह जो इस मनुष्यपन (विराट् देह) में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म में मनुष्य जाति का अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है । यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥१३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यात्मनः सर्वाणि भू-

सर्वान्तरात्मा है ॥ * सत्य = सचाई, वे नियम जो इस बाह्य जगत में काम कर रहे हैं और शरीर में काम कर रहे हैं ॥

तानि मधु। यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥१४॥

यह आत्मा * सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस आत्मा की शहद हैं। और जो यह इस आत्मा में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है†। यही है वह जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥१४॥

सं०—इस प्रकार परमात्मा को बाह्य और अध्यात्म जगत् का अधिष्ठाता बतलाकर अन्त में आत्मा का भी आत्मा ठहराया है, अब उसे सारे जगत् को वश में रखने वाला और सब का आधार बतलाकर मधुविद्या को समाप्त करते हैं—

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः, सर्वेषां भूतानाꣳराजा। तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता, एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्वे एत आत्मानः समर्पिताः ॥१५॥

---

* जीवात्मा, हरएक प्राणधारी इसी से भोग-भोगता है, इसीलिये सब जीवों की शहद है; आत्मा = शरीर इन्द्रियों का समुदाय (शङ्कराचार्य)

† जैसे पहले बाह्य जगत् में पृथिवी आदि का और अध्यात्म जगत् में शरीर आदि का अधिष्ठाता बतलाया है, उस प्रकार यहां बाह्य जगत् का कोई पदार्थ नहीं कहा, किन्तु सब के अन्त में आत्मा का अन्तर्यामी उसको वर्णन किया है। इसलिये यहां आत्मा में उसे तेजोमय अमृतमय पुरुष बतलाकर फिर उसका स्वरूप ही वर्णन कर दिया है कि जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है इत्यादि।

सो यह आत्मा सब जीवों का अधिपति है (हकूमत करने वाला है) सब जीवों का राजा है। सो जैसे रथ की नाभि में और रथकी नेमि (धारा) में सब अरे मोए हुए होते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा में सारे जीव सारे देवता सारे लोक सारे प्राण और सारे ये आत्मा मोए हुए हैं

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत। तद्वां नरा सनये दꣳस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्नवृष्टिम्। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदी मुवाचेति ॥१६॥

निःसंदेह यह शहद (मधुविद्या) दध्यङ् आथर्वण (अथर्वा के पुत्र) ने दोनों अश्वियों को बतलाई थी। सो इस बात को देखकर ऋषि(=मन्त्र—शंकराचार्य) ने कहा है(ऋग्० १।११६।१२) हे शूरवीरो (अश्वियो) जैसाकि बादल की गर्जना वर्षा को प्रकट करती है,इसप्रकार मैं तुम्हारे उस उग्र(तेजस्वी)कर्म को अपने लाभ के लिये प्रकट करता हूं, कि जो अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने घोड़े के सिर से तुम दोनों को मधु (मधुविद्या) बतलाई * ॥१६॥

---

* इस और अगले मन्त्र का अभिप्राय हम स्वतन्त्रता से कुछ नहीं समझ सके। स्वामि शंकराचार्य ने यह लिखा है, कि इन्द्र ने अथर्वा के पुत्र दध्यङ् को प्रवर्ग्यविद्या और मधुविद्या सिखलाई और यह कहा कि यदि तुम किसी दूसरे को सिखलाओगे, तो तुम्हारा सिर काट लिया जाएगा, दध्यङ् ने पहले अश्वियों से कहा था, कि मैं यह विद्या सीख कर तुम्हें सिखलाऊंगा। सो अश्वियों ने अब दध्यङ् को कहा, कि तुम हमें विद्या सिखाओ। उसने कहा कि मैं इन्द्र से डरता हूं, कि वह मेरा सिर न काट ले। तब उन्होंने कहा हम तुम्हें बचाएंगे। और उन्होंने यह किया कि उसका सिर काटकर दूसरी जगह रख दिया और उस पर घोड़े का सिर

इदं वैतन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳशिरः प्रत्यैरयतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद्दास्रावपि कक्ष्यं वामिति॥ १७॥

निःसन्देह यह शहद (मधुविद्या) अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने अश्वियों को बतलाई, सो इस बात को देखकर ऋषि ने कहा है—

हे अश्वियो तुम दोनों ने अथर्वा के पुत्र दध्यङ् के लिये

लगा दिया, तब उसने उनको प्रवर्ग्य और मधुविद्या बतलाई और जब वह बतला चुका, तो इन्द्र ने दध्यङ् का सिर (जो घोडे का था) काट लिया। तब अश्वियों ने इसका असली सिर उस पर रख दिया। सायणाचार्य ने भी यही आशय प्रगट किया है॥

स्वामि दयानन्द सरस्वतीजी ने इन मन्त्रों का यह अर्थ लिखा है—तद्वांनरा...हे अच्छी नीतिवालो मैं जो विद्वानों और धर्मात्माओं की संगति रखनेवाला और भद्र पिताकी सन्तान हूं,तुम दोनोंसे सुख सेवन के लिये उत्तम कर्म को प्रगट करता हूं, जैसे बिजली वर्षा को प्रगट करती है। जो विद्वान् तुम दोनों के लिये और मेरे लिये जल्दी पहुंचाने वाले द्रव्य के प्रधान कर्म से मीठे शास्त्र के बोध का उपदेश करे उसे तुम दोनों जगत् में प्रगट करो॥ आथर्वणायाश्विना...हे दुःखों के दूर करने वाले और सत्कर्मों में प्रेरने वाले सभा सेनापतियो तुम दोनों जिस कटे हुए सन्देहों वाले के पुत्र और विद्वानों और धर्मात्माओं की पूजा करने वाले के लिये घोडे के सिरको प्राप्त कराओ, वह तुम दोनों के लिये मधुर विज्ञान का उपदेश करे जो विज्ञान भारी विद्वान् से उपदेश किया गया है,और सब प्रकार की विद्याओं से सम्बन्ध रखता है। भाव यह कि सभा सेनापति आदि राज पुरुष विद्वानों में श्रद्धा करें और सत्कर्मों में प्रेरें और वे तुम्हारे लिये सचाई का उपदेश करके प्रमाद और अधर्म से रोकें॥

घोड़े का सिर मेरा। और हे अद्भुत कर्म करने वालो उसने सचाई चाहते हुए (प्रण को पूरा करना चाहते हुए) ने तुम दोनों को शहद (मधुविद्या) बतलाई,जो त्वष्टा सम्बन्धि (अर्थात् प्रवर्ग्यविद्या) और रहस्य (ब्रह्मज्ञान की उपनिषद्) है ॥ १७ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्या मुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किञ्चनाऽनावृतं नैनेन किञ्चनाऽसंवृतम् ॥ १८ ॥

निःसंदेह यह शहद (मधुविद्या) अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने अश्वियों को बतलाई,सो इस बात को देखकर ऋषि ने कहा है— उस (परमात्मा) ने दो पाओं वाले शरीर बनाए और चार पाओं वाले शरीर बनाए और वह पुरुष पहले पक्षी * बनकर इन शरीरों में प्रविष्ट हुआ॥ निःसंदेह वह पुरुष इन सब पुरों (शरीरों) में पुरिशय है (अर्थात् सब शरीरों में रहता है इसीलिये पुरुष है)। कोई वस्तु ऐसी नहीं जो इससे ढपी हुई न हो और कोई वस्तु ऐसी नहीं जो इससे भरपूर न हो॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। रूपꣳरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति। अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपर-

* देखो तै० उप० २य वल्ली ॥

मनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्

निःसंदेह यह शहद (मधुविद्या) अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने अश्वियों को बतलाई, सो इस बात को देखकर ऋषिने कहा है,(ऋग्०५।४७।१८) हरएक रूप के वह प्रतिरूप होगया है,वह इसका रूप(हमारे) देखने के लिये है। इन्द्र भिन्न २ रचना से अनेक रूपों वाला प्रतीत होता है, दस सौ इसके घोड़े जुड़े हुए हैं॥

यह ही (आत्मा) घोड़े है, यह ही (आत्मा) दस और हज़ारों है, बहुत हैं और अनन्त है *। सो यह ब्रह्म है, जिसका कोई कारण नहीं, जिसका कोई कार्य नहीं, जिसके कुछ अन्दर नहीं, जिसके कुछ बाहर नहीं, यह आत्मा ब्रह्म सब का अनुभव करने वाला है यह (उपनिषद्) की शिक्षा है॥ १९॥

छटा ब्राह्मण (वंश ब्राह्मण)

अथवंशः—पौतिमाष्यो गौपवनाद,गौपवनः पौतिमाष्यात,पौतिमाष्यो गौपवनाद,गौपवनःकौशिकात्, कौशिकः कौण्डिन्यात्, कौण्डिन्यः शाण्डिल्यात, शाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः॥१॥ आग्निवेश्याद्,आग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्च, आन-

* परमात्मा इस विश्व के हरएक छोटे बड़े पदार्थ में व्यापक है। और उसके हरएक प्रदेश में व्यापक होने से उसी के प्रतिरूप होकर व्यापक है। और यह सारा विश्व उसके प्रकाश से प्रकाशित होरहा है;इसलिये यह अपने प्रकाश से उसी को दिखलाता है। या यूं कहो कि ब्रह्माण्ड एक रथ है जिसको वह अनन्त शक्तियों (घोड़ों) से चला रहा है जो उसकी शक्तियें भिन्न २ देवताओं से भिन्न २ रूपों में प्रगट होती हैं, वस्तुतः वे सारी शक्तियें उससे पृथक् नहीं हैं॥

भिम्लात आनभिम्लाताद्,आनभिम्लात आनभिम्लाताद्,आनभिम्लातो गौतमाद्,गौतमः सैतव प्राचीनयोग्याभ्यां,सैतव प्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्,पाराशर्यो भारद्वाजात्,भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च,गौतमो भारद्वाजाद्,भारद्वाजः पाराशर्यात्,पाराशर्यो बैजवापायनाद्,बैजवापायनःकौशिकायनेः,कौशिकायनिः ॥२॥घृतकौशिकाद्, घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्, पाराशर्यायणः पाराशर्यात्, पाराशर्यो जातूकर्ण्यात्, जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्च,आसुरायणस्त्रैवणेः त्रैवणिरौपजन्धनेः,औपजन्ध निरासुरेः, आसुरि भारद्वाजाद्, भारद्वाज आत्रेयाद्, आत्रेयो माण्टेः, माण्टि गौतमाद्,गौतमो गौतमाद्,गौतमो वात्स्याद्,वात्स्यः शाण्डिल्यात्,शाण्डिल्यः कैशोर्यात् काप्यात्, कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्,कुमारहारितो गालवाद्, गालवो विदर्भी कौण्डिन्याद्, विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्,वत्सनपाद् बाभ्रवः पथः सौभरात्, पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसाद्,अयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्राद्; आभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात् त्वाष्ट्राद्,विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्याम्, अश्विनौ दधीच आथर्वणाद्, दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवाद्, अथर्वा दैवो मृत्योःप्रा-

ध्वꣳसनाद्,मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्, प्रध्वꣳसन एकर्षेः, एकर्षिर्विप्रचित्तेः, विप्रचित्तिर्व्यष्टेः, व्यष्टिः सनारोः,सनारुः सनातनात्,सनातनः सनगात्,सनगः परमेष्ठिनःपरमेष्ठी ब्रह्मणः,ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणेनमः३

अब वंश कहते हैं–(१) पौतिमाष्य गौपवन से (२) गौपवन पौतिमाष्य से (३) पौतिमाष्य गौपवन से (४) गौपवन कौशिक से (५)कौशिक कौण्डिन्य से(६)कौण्डिन्य शाण्डिल्य से (७)शाण्डिल्य कौशिक और गौतम से(८)गौतम*॥१॥आग्निवेश्य से(९)आग्निवेश्य शाण्डिल्य और आनभिम्लात से(१०)आनभिम्लात आनभिम्लात से (११) आनभिम्लात आनभिम्लात से(१२)आनभिम्लात गौतम से(१३)गौतम सैतव और प्राचीनयोग्य से(१४)सैतव और प्राचीन योग्य पाराशर्य से(१५)पाराशर्य भारद्वाज से(१६)भारद्वाज भारद्वाज और गौतम से (१७) गोतम भारद्वाज से(१८)भारद्वाज पाराशर्य से

* उपनिषद् के रहस्य परम्परा से (सीना बसीना) एक दूसरे के पास पहुंचते रहे हैं,सो पूर्व कहे हुए रहस्य जिस क्रम से एक दूसरे के पास पहुंचे हैं,उसका वर्णन इस वंश ब्राह्मण में हैं। यह वंश गुरु शिष्य की परम्परा का वंश है। इनमें से पहला शिष्य का नाम और दूसरा गुरु का नाम है। ये नाम गोत्र नाम हैं। जहां कहीं एक ही नाम गुरु और शिष्य का पाया जाता है वहां जो गोत्र शिष्य का है वही गुरु का है इसलिये एक ही नाम है। और गोत्र नाम होने के कारण ही जो नाम एक वार आचुका है, वह फिर आगे भी आया है। वंश ब्राह्मण चौथे और छटे अध्याय की समाप्ति में भी है और चौथे अध्याय में मैत्रयी याज्ञवल्क्य का सम्वाद भी दुबारा आया है। जो यहां दूसरे अध्याय में आचुका है। इससे प्रतीत होता है, कि बृहदारण्यक के दो२ अध्यायों का अलग २ संग्रह हुआ है॥

(१९)पाराशर्य वैजवापायन से(२०) वैजवापायन कौशिकायनि से (२१)कौशिकायनि॥२॥घृत कौशिक से (२२) घृतकौशिक पाराशर्यायण से (२३) पाराशर्यायण पाराशर्य से (२४) पाराशर्य जातूकर्ण्य से(२५)जातूकर्ण्य आसुरायण और यास्क से(२६)आसुरायण त्रैवणि से (२६)त्रैवणि औपजन्धनि से (२८) औपजन्धनि आसुरि से (२९) आसुरि भारद्वाज से(३०)भारद्वाज आत्रेय से(३१)आत्रेय माण्टि से (३२) माण्टि गौतम से (३३) गौतम गौतम से(३४)गौतम वात्स्य से(३५)वात्स्य शाण्डिल्य से(३६)शाण्डिल्य कैशोर्य-काप्य से (३७) कैशोर्य-काप्य कुमारहारित से (३८) कुमारहारित गालव से (३९) गालव विदर्भी-कौण्डिन्य से(४०)विदर्भी कौण्डिन्य वत्सनपात्-बाभ्रव से(४१)वत्सनपात्-बाभ्रव पथि-सौभर से(४२)पथि-सौभर अयास्य-आङ्गिरस से(४३)अयास्य आङ्गिरस आभूति-त्वाष्ट्र से (४४) आभूतित्वाष्ट्र विश्वरूप त्वाष्ट्र से (४५) विश्वरूप-त्वाष्ट्र अश्वियों से (४६) अश्वि दध्यङ्-आथर्वण से (४७) दध्यङ्-आथर्वण अथर्वा-दैवसे(४८)अथर्वा-दैवमृत्यु-प्राध्वंसन से(४९)मृत्यु-प्राध्वंसन प्रध्वंसन से(५०)प्रध्वंसन एकर्षि से(५१)एकर्षि विप्रचित्ति से(५२) विप्रचित्ति व्यष्टि से (५३) व्यष्टि सनारु से(५४) सनारु सनातन से (५५) सनातन सनग से (५६) सनग परमेष्ठी से(५७) परमेष्ठी ब्रह्म से (५८) ब्रह्म स्वयम्भु है (अपने आप है) ब्रह्म को नमस्कार है॥३॥

तीसरा अध्याय पहला ब्राह्मण-(आश्वल ब्राह्मण)

ओं जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे। तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः। तस्य ह ज-

नकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव, कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति सह गवाꣳसहस्रमवरुरोध।दश दश पादा एकैकस्या शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥ १ ॥

जनक वैदेह* ने एक बहुत दक्षिणा वाला (अश्वमेध) यज्ञ किया। वहां कुरुओं*और पंचालों*के ब्राह्मण इकट्ठे हुए थे। उस जनक वैदेह को यह जानने की इच्छा हुई,कि इन ब्राह्मणों में से कौन सब से बढ़कर वेद का जानने वाला है।सो उसने हज़ार गौएं(गोशाला में) रोकीं,जिनमें से एक२के सींगों पर दस२(सोने के)पाद बांधे हुए थे†॥

तान्होवाच—'ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः, स एता गा उदजताम्'इति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः,अथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाच 'एताः सोम्योदज सामश्रवा३'इति। ता होदाचकार।ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठोब्रुवीतेति। अथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव। स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञ-

---

* विदेह, कुरु और पञ्चाल ये तीनों क्षत्रियों की जातियें थीं। इन जातियों में से जहां जिसका निवास था, वह देश उसी के नाम से बोला जाता था। वर्तमान मिथला के आस पास देशों में विदेह निवास करते थे, वर्तमान दिल्ली के आस पास देशों में कुरु और वर्तमान कन्नौज के आस पास देशों में पञ्चाल निवास करते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में यहां के क्षत्रियों के पराक्रम और ब्राह्मणों की विद्या और धर्मभाव की बहुत कुछ प्रशंसा पाई जाती है॥

† अर्थात् एक २ सींग पर पांच २ सोने के पाद बांधे हुए थे। पाद=पल का चौथा हिस्सा, सोने का सिक्का [शङ्कराचार्य]

वल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३' इति। स होवाच—'नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मः, गोकामा एव वयꣳस्मः' इति। तꣳह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥ २ ॥

(जनक ने) उनको कहा—'भगवान् ब्राह्मणो ! जो तुम में से सब से बढ़कर ब्रह्मा*है, वह इन गौओं को हांक ले' ॥ पर उन ब्राह्मणों (में से किसी) का हौसला नहीं पड़ा। तब याज्ञवल्क्य ने अपने ही एक ब्रह्मचारी को कहा—'प्यारे सामश्रवा † इन (गौओं) को हांक लेना'। वह हांक ले गया॥ तिस पर वे ब्राह्मण क्रुद्ध हुए कि किस तरह हम में से वह अपने आप को सब से बढ़कर ब्रह्मा कह सक्ता है ? अब,(जो उनमें)जनक वैदेह का होता अश्वल था। उसने इसको पूछा—'क्या तू याज्ञवल्क्य हम में से सब से बढ़ कर ब्रह्मा है' ? उसने कहा—'हम सब से बढ़कर ब्रह्मा को नमस्कार करते हैं, हम (आजकल) गौओं की कामना वाले हैं' ॥ उसको उसी से होता अश्वल पूछने लगा ॥ २ ॥

---

* ब्रह्मा=चारों वेदों का जानने वाला—ऐतरेय ब्राह्मण में चारों ऋत्विजों का काम इस प्रकार विभक्त किया है कि ऋग्वेद से होता का काम,यजुर्वेद से अध्वर्यु का,सामवेद से उद्गाता का,और ऋचा, यजु, साम तीनों से ब्रह्मा का काम किया जाता है ॥

† सामश्रवा यह शिष्य का नाम प्रतीत होता है, और उस समय इस प्रकार के नामों का प्रचार था, जैसाकि महाभारत १।३।१३ में श्रुतश्रवा ऋषि है,और उस का पुत्र सोमश्रवा आया है ॥ याज्ञवल्क्य से यह शिष्य सामवेद पढ़ता था इसलिये उसे सामश्रवा कहा है, इससे यह बात सिद्ध होती है कि याज्ञवल्क्य चारों वेदों का जानने वाला था (शङ्कराचार्य) याज्ञवल्क्य यजुर्वेद का प्रसिद्ध अध्यापक है, उससे यह ब्रह्मचारी साम सुनता है। और साम

याज्ञवल्क्येति होवाच—'यदिदꣳसर्वं मृत्युनाप्तꣳसर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं,केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यते' 'होत्रर्त्विजाऽग्निनावाचा।वाग्वै यज्ञस्यहोता।तद्येयं वाक्, सोऽयमग्निः, स होता, स मुक्तिः, साऽति मुक्तिः॥३॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य! जब यह (यज्ञ सम्बन्धि) हरएक वस्तु मृत्यु की पहुंच में है.हरएक वस्तु मृत्यु के वश में है। तो फिर किस

ऋचाओं में गाया जाता है और अथर्ववेद तीनों ही वेदों के अन्तर्भूत है, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि याज्ञवल्क्य चारों वेदों का जानने वाला है,क्योंकि केवल यजुर्वेदी के पास से सामवेद का पढ़ना नहीं बन सका [आनन्दगिरि] कई व्याख्याकारों ने सामश्रवा यह याज्ञवल्क्य का सम्बोधन माना है अर्थात् याज्ञवल्क्य ने कहा हे प्यारे! इन गौओं को हांकले। तब वह ब्रह्मचारि 'हे सामश्रवा' यह कहकर उन गौओं को हांक लेगया। उनका आशय यह है, कि याज्ञवल्क्य यजुर्वेद का अध्यापक था उसको चतुर्वेदी जितलाने के लिये उस के शिष्य ने उसे सामश्रवा कहकर सम्बोधित किया। पर इस अर्थ में 'उदज' के आगे एक इति शब्द और चाहिये। उपनिषद् में जैसा पाठ है, उसका वही अर्थ बन सक्ता है जो ऊपर हम ने दिया है। दूसरा यहां याज्ञवल्क्य को सामश्रवा कहनेसे यही अभिप्रेत होसक्ता है कि याज्ञवल्क्य चतुर्वेदी है यह अभिप्राय शिष्य को सामश्रवा कहने से भी सिद्ध हो जाता है। शिष्य को सामश्रवा कहना तो इसलिए ठीक होगा कि वह सामवेद पढ़ता है। पर याज्ञवल्क्य जब चतुर्वेदी है, तो उसको सामश्रवा कहने का कोई हेतु नहीं। वस्तुतः तो चतुर्वेदी के लिए ब्रह्मा शब्द ही बोला जाता है और यही याज्ञवल्क्य ने पूछा था कि तुम में से ब्रह्मिष्ठ अर्थात् सब से बढ़कर ब्रह्मा कौन है। सो यदि यह याज्ञवल्क्य को चतुर्वेदी जितलाने के लिए सम्बोधन होता, तो ब्रह्मन् वा ब्रह्मिष्ठ होता; सामश्रवा कहने का कोई हेतु नहीं, इसलिये सामश्रवा नाम है तो शिष्य का है, यौगिक शब्द है, तो शिष्य के लिये है॥

साधन से यजमान मृत्यु की पहुंच से अति मुक्त होजाता है (पूरा आज़ाद होजाता है)। (उसने उत्तर दिया) होता ऋत्विक् से, जो अग्नि है, जो वाणी है। क्योंकि वाणी यज्ञ का होता है, और यह वाणी अग्नि है, और वह (अग्नि) होता है, वह (होता) मुक्ति (मृत्यु से छूटना) है और वह अतिमुक्ति (मृत्यु से पूरा २ छूट जाना) है *॥३॥

याज्ञवल्क्येतिहोवाच—'यदिदꣳसर्वमहोरात्राभ्यामाप्तꣳसर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं,केनयजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यते'इति। 'अध्वर्युणर्त्विजा। चक्षुषाऽऽदित्येन। चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः,तद् यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः' ॥४॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! जब यह (यज्ञ सम्बन्धि) हरएक वस्तु दिन और रात की पहुंच में है, हरएक वस्तु दिन और रात के वश में है। तो फिर किस साधन से यजमान दिन और रात की पहुंच से अतिमुक्त होजाता है॥ (याज्ञवल्क्य ने कहा) अध्वर्यु ऋत्विज् से,

---

* व्यष्टि जीवन को समष्टि से मिलाना यज्ञ का उद्देश्य है, सो यह बात इस सारी प्रश्नोत्तरी में बतलाई गई है, प्रश्न यह था कि यज्ञ के जो साधन हैं, वे मृत्यु की पहुंच में हैं, तो फिर यज्ञ करने वाला इन साधनों से क्योंकर मृत्यु से पार उतरता है। उत्तर यह है कि मृत्यु व्यष्टि के लिये है, समष्टि के लिये नहीं। व्यष्टि का फिर समष्टि में मिल जाना ही व्यष्टि के लिये मृत्यु है। वाणी व्यष्टि है और अग्नि समष्टि है, क्योंकि 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐत०आ०२।४।२४।) अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हुई है। सो उस वाणी की व्यष्टिसीमाको तोड़कर उसे समष्टि अग्निके साथ मिला देना (एक समझना) ही वाणी को मौत से छुडाना है। आधियज्ञ में वाणी होता का काम करती है, वही होता आधिदैवत में अग्नि है। इसलिये कहा है—जो होता ऋत्विक् है वही वाणी है, वही अग्नि है॥

जो आंख है,जो सूर्य है*। क्योंकि आंख यज्ञ का अध्वर्यु है,और आंख सूर्य है, और वह (सूर्य) अध्वर्यु है, वह (अध्वर्यु) मुक्ति है, वह अति मुक्ति है ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्येतिहोवाच—'यदिद७ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्त७ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं। केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यते'इति। उद्गात्रर्त्विजा वायुनाप्राणेन। प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता, तद्योऽयं प्राणः,स वायुः,स उद्गाता,स मुक्तिः,साऽति मुक्ति॥५॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य! जब यह (यज्ञ सम्बन्धि) हरएक वस्तु पहले पक्ष (शुक्लपक्ष, जिस में चांद बढ़ता है) और दूसरे पक्ष (कृष्ण पक्ष, जिस में चांद घटता है) की पहुंच में है, हरएक वस्तु पहले पक्ष और दूसरे पक्ष के वश में है। तो फिर किस साधन से यह यजमान मृत्यु की पहुंच से अतिमुक्त होता है॥

(याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) उद्गाता ऋत्विक् से, जो वायु है, जो प्राण है। प्राण यज्ञ का उद्गाता है, और प्राण वायु है, वह उद्गाता है, वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है † ॥५॥

याज्ञवल्क्येति होवाच—'यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव। केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमते' इति। ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण। मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा, तद्यदिदं मनः,सोऽसौचन्द्रः,स ब्रह्मा,स मुक्तिः, सा अतिमुक्तिः' इत्यतिमोक्षाः, अथ सम्पदः ॥६॥

---

* व्यष्टि आंख के लिये दिन रात है, वह समष्टि सूर्य के साथ एक होने से दिन रात की पहुंच से पार हो जाती है॥ † दिन रात का बनाने वाला सूर्य है और शुक्ल कृष्ण पक्षों का बनाने वाला चन्द्र है,इसलिये दिन रात से अलग पक्षों के विषय में प्रश्न उत्तर है॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य जब यह अन्तरिक्ष मानों बिना सहारे (सीढ़ी) के है। तो फिर यह यजमान किस चढ़ाव से स्वर्ग लोकपर चढ़ जाता है। (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ब्रह्मा ऋत्विज् से, जो मन है, जो चन्द्र है। क्योंकि मन यज्ञ का ब्रह्मा है, और यह मन चन्द्र है, वह ब्रह्मा है, वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है। ये अतिमोक्ष (पूरे छुटकारे हैं मृत्यु से)

सं०—अब सम्पदाएं * (कर्म का फल ऐश्वर्य कहते हैं)।

याज्ञवल्क्येति होवाच—'कतिभिरयमद्यर्ग्भि र्होताऽस्मिन् यज्ञे करिष्यति' इति। 'तिसृभिः' इति। 'कतमास्तास्तिस्रः' इति। 'पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया'। 'किं ताभिर्जयति' इति। 'यत्किञ्चेदं प्राणभृद्' इति॥७॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य! कितनी ऋचाओं से आज यह होता इस यज्ञ में (होता का काम) करेगा' ? (उसने उत्तर दिया) 'तीन से'। 'वे तीन कौन सी हैं' ? (उसने उत्तर दिया) 'पुरोऽनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या' †। 'इन ऋचाओं से वह (यजमान) क्या जीतता है (क्या फल लाभ करता है)' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'जो कुछ यह प्राणधारी है' ॥७॥

याज्ञवल्क्येति होवाच—'कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ

---

* अग्निहोत्र आदि जो छोटे कर्म हैं, उन में अश्वमेध आदि बड़े कर्मों का वा उनके फलों का ख्याल करना। जब पुरुष किसी कारण से अश्वमेध आदि यज्ञों के असमर्थ हो, तो जिसने अन्याधान किया हुआ है, वह पुरुष अग्निहोत्र आदि कर्मों में से यथा सम्भव किसी को लेकर उस कर्म में जिसके फल की कामना करता है, वही सम्पादन कर लेता है (शंकराचार्य) † पुरोऽनुवाक्या जो यजन (हवि डालने) से पूर्व पढ़ी जाती है। याज्या जो यजनकाल में पढ़ी जाती है। शस्या जिस से स्तुति की जाती है।

आहुतीर्होष्यति' इति । 'तिस्रः' इति 'कतमास्तास्तिस्रः' इति । 'या हुता उज्ज्वलन्ति, या हुता अतिनेदन्ते, 'या हुता अधिशेरते' । 'किं ताभिर्जयति'इति । 'या हुता उज्ज्वलन्ति, देवलोकमेव ताभिर्जयति, दीप्यत इव हि देवलोकः । या हुता अतिनेदन्ते, पितृलोकमेवताभिर्जयति, अतीवहि पितृलोकः । या हुता अधिशेरते, मनुष्यलोकमेवताभिर्जयति, अध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! यह अध्वर्यु आज इस यज्ञ में कितनी आहुतियें होमेगा, (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'तीन' ' वे तीन कौन सी हैं' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ' वे, जो होम की हुई चमकती हैं,और वे, जो होम की हुई बहुत शब्द करती हैं, और वे, जो होम की हुई नीचे जा ठहरती हैं' । 'उनसे वह क्या जीतता है'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'जो होम की हुई चमकती हैं, उन से वह देवलोक को ही जीतता है, क्योंकि देवलोक मानों चमकता है । और जो होम की हुई बहुत शब्द करती हैं,उन से वह पितृलोक को ही जीतता है, क्योंकि पितृलोक मानों अतिशब्द वाला है । और जो होम की हुई नीचे बैठ जाती हैं, उन से वह मनुष्य लोक को ही जीतता है, क्योंकि मनुष्य लोक मानों नीचे है॥८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच—'कतिभिरयमद्य ब्रह्मा दक्षिणतो यज्ञं देवताभिर्गोपायति' इति । 'एकया' इति । 'कतमा सैका' इति । 'मन एव' इति । अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' ॥९॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! यह ब्रह्मा आज दक्षिण से (यज्ञ में ब्रह्मा दक्षिण दिशा में बैठता है) कितने देवताओं से यज्ञ की रक्षा करेगा' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'एकसे'। 'वह एक कौन है'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'मन ही है, क्योंकि मन अन्त से रहित है और विश्वेदेव भी अन्त से रहित हैं, अतएव वह (उसका जानने वाला) उस से अन्त रहित लोक को जीतता है ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येतिहोवाच—'कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन् यज्ञ स्तोत्रियाः स्तोष्यति' इति। 'तिस्रः'इति। 'कतमास्तास्तिस्रः'इति।'पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया'। 'कतमास्ता या अध्यात्मम्' इति। 'प्राण एव पुरोऽनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या' 'किं ताभिर्जयति' इति। 'पृथिवीलोकमेव पुरोऽनुवाक्यया जयति,अन्तरिक्षलोकं याज्यया,द्युलोकꣳशस्यया'। ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥ १० ॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! कितनी वे स्तोत्रिय(स्तोत्र बनाने वाली) ऋचाएं हैं,जिनसे यह उद्गाता आज इस यज्ञमें स्तुति करेगा' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'तीन'। 'वे तीन कौन सी हैं'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया)'पुरोऽनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या'। अच्छा, तो वे कौन (ऋचाएं) हैं जो शरीर में (अध्यात्म) हैं'। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया)। 'प्राण (सांस निकालना) ही पुरोऽनुवाक्या है, अपान (सांस का अन्दर खींचना) याज्या है, और व्यान (सांस को वापिस लौटाना) शस्या है। 'उनसे वह क्या जीतता है'? पृथिवी लोक को ही पुरोऽनुवाक्या से जीतता है, अन्तरिक्षलोक को याज्या से और

द्युलोक को शस्या से । तब होता अश्वल चुप होगया *॥१०॥

दूसरा ब्राह्मण (आर्तभाग ब्राह्मण)

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच-'कति ग्रहाः कत्यतिग्रहाः,' इति । 'अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः' इति 'ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः, कतमे ते' इति

तब इसको जारत्कारव (जरत्कारु गोत्रवाले) आर्तभाग (ऋतभाग के पुत्र) ने पूछा । उसने कहा-'हे याज्ञवल्क्य कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं †' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं' (फिर पूछा) 'जो वे आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं, वे कौन से हैं ? ॥ १ ॥

प्राणो वै ग्रहः, सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतः, अपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥२॥ वाग्वै ग्रहः, स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतः, वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३ ॥ जिह्वा वै ग्रहः, स रसेनातिग्राहेण गृहीतः, जिह्वया हि रसान् विजानाति ॥ ४ ॥ चक्षुर्वै ग्रहः, स रूपेणातिग्राहेण गृहीतः, चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥

---

* उद्गाता इन ऋचाओं को प्राण के आश्रय गाता है इसलिये इन तीनों को प्राण अपान व्यानरूप ठहराकर उनका अलग २ फल बतलाया है ॥ † ग्रह शब्द प्रायः यज्ञ की परिभाषा में उस लकड़ी के कटोरे का नाम है जिसमें सोमहवि डाली जाती है । पर यहां ग्रह शब्द पकड़ने वाले अर्थात् वश में करने वाले के अर्थ में है और अभिप्राय इन्द्रियों से है क्योंकि इन्द्रिय मनुष्य को बांधते हैं, इसलिये इन्द्रिय ग्रह हैं, और इन्द्रियों की यह शक्ति विषयों के अधीन हैं, बिना विषयों के इन्द्रिय भी बांधने में असमर्थ हैं, इसलिये विषय अतिग्रह हैं । पूर्व मुक्ति और अतिमुक्ति कह आए हैं, यहां इसके मुकाबिले में ग्रह और अतिग्रह कहे हैं ॥

प्राण (सांस निकालना) एक ग्रहहै और वह अपान(अन्दर सांस खींचना अर्थात् गन्ध ग्रहण करना) रूपी अतिग्रह* से पकड़ा हुआ है क्योंकि अपान से गन्धों को सूंघता है॥२॥ वाणी एक ग्रह है, और वह (ग्रह) नामरूपी अतिग्रह से पकड़ा हुआ है। क्योंकि वाणी से नामों को उच्चारण करता है॥ ३॥ जिह्वा एक ग्रह है, और वह रसरूपी अतिग्रह से पकड़ा हुआ है, क्योंकि जिव्हा से ही रसों को जानता है॥ ४॥ आंख ग्रह है वह रूप जो अतिग्रह है उससे पकड़ा हुआ है क्योंकि आंख से रूपोंको देखता है

श्रोत्रं वै ग्रहः, स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः,श्रोत्रेण हि शब्दाञ्शृणोति ॥६॥ मनो वै ग्रहः, स कामेनाति ग्राहेण गृहीतः,मनसा हि कामान् कामयते॥७॥हस्तौ वै ग्रहः, स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतः, हस्ताभ्या‌ँ हि कर्म करोति॥८॥त्वग्वैग्रहः, स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतः, त्वाचा हि स्पर्शान् वेदयते इत्येतेऽष्टौग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥९॥ याज्ञवल्क्येतिहोवाच—'यदिदं सर्वमृत्योरन्नं. कास्वित्सा देवता, यस्या मृत्युरन्नम्' इति। 'अग्निर्वै मृत्युः,सोऽपामन्नम्। अपपुनर्मृत्युं जयति'१०

कान एक ग्रह है,वह शब्द जो अतिग्रह है उससे पकड़ा हुआ है, क्योंकि कान से शब्दों को सुनता है॥६॥ मन एक ग्रह है,और वह कामना जो अतिग्रह है. उससे पकड़ा हुआ है, क्योंकि मन से कामनाओं को चाहता है॥७॥ दोनों हाथ एक ग्रह है, और वह (ग्रह) कर्म जो अतिग्रह है, उससे पकड़ा हुआ है, क्योंकि हाथों से कर्म करता है॥८॥ त्वचा एक ग्रह है, और वह स्पर्श जो अतिग्रह है उससे पकड़ा हुआ है, क्योंकि त्वचा से स्पर्शों को जानता है। ये आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं॥ ९॥

---

* यहां मूल में अतिग्राह शब्द है। अतिग्रह और अतिग्राह दोनों शब्द समानार्थक है। अतिग्राह में दीर्घ छान्दस है॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य! जो यह हरएक वस्तु मृत्यु का अन्न (खुराक) है, फिर वह कौन देवता है, जिसका मृत्यु अन्न है। (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'अग्नि मृत्यु है, और वह जलों का अन्न है। वह फिर मृत्यु को जीत लेता है * ॥१०॥

याज्ञवल्क्येति होवाच—'यत्रायं पुरुषो म्रियते, उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो न' इति। 'न' इति होवाच याज्ञवल्क्यः, 'अत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते' ॥ ११ ॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य! जब यह पुरुष मरता है, तो इससे प्राण निकल जाते हैं वा नहीं' याज्ञवल्क्य ने कहा—'नहीं, इस में ही वे मिल जाते हैं, वह फूल जाता है, (बाहर के) वायु से भरजाता है और इस तरह वह वायु से भरा हुआ मृत हुआ लेटता है' †११॥

याज्ञवल्क्येति होवाच—'यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहाति' इति। 'नाम' इति। अनन्तं वै नाम, अनन्ता विश्वेदेवाः, अनन्तमेव स तेन लोकं जयति॥१२॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य! जब यह पुरुष मरता है, तो

---

* प्रश्न का अभिप्राय यह है, कि बन्धन जो मृत्यु है, उससे हम तब छूट सक्ते हैं, यदि कोई मृत्यु की मृत्यु हो। उत्तर का अभिप्राय यह है, कि अग्नि दूसरी वस्तुओं का मृत्यु है, तो भी पानी उसको जीत लेता है, इसी से जानना चाहिये कि मृत्यु को भी जीत सक्ते हैं। जो इस रहस्य को जानता है, वह मृत्यु को जीत लेता है ॥

† प्राण=वासनाएं, वह पुरुष जो मृत्यु को जीत चुका है, उस की वासनाएं (संस्कार) उसके साथ जाकर उसके जन्मान्तर का हेतु नहीं बनतीं, किन्तु वहीं लीन हो जाती हैं (शंकराचार्य) ॥

क्या वस्तु इसको नहीं छोड़ती ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'नाम' । नाम अनन्त रहित है और विश्वेदेव अनन्त रहित हैं । वह उससे(=अनन्त के जानने से)अनन्त लोक को ही जीतता है'॥१२॥

याज्ञवल्क्येतिहोवाच—'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः, चक्षुरादित्यं, मनश्चन्द्रं, दिशः श्रोत्रं,पृथिवीꣳशरीरम्,आकाशमात्मा,ओषधीर्लोमानि,वनस्पतीन् केशाः,अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते । क्वायं तदा पुरुषो भवति' इति ? 'आहर सोम्य हस्तमार्तभागावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजने' इति । तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते,तौ ह यदूचतुः, कर्म हैव तदूचतुः।अथ यत् प्रशशꣳसतुः,कर्महैव तत्प्रशशꣳसतुः ।पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन' इति । ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१३॥

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! जब इस मर चुके हुए पुरुष * की वाणी आग में जा मिलती है, प्राण वायु में,आंख सूर्य में, मन चन्द्र में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में,आत्मा (हृदयाकाश, शङ्कराचार्य) आकाश में,(शरीर के) रोम ओषधियों में (शिर के) बाल बनस्पतियों में,तथा लहू और वीर्य जलों में रक्खा जाता है, तब यह पुरुष कहां होता है? ? (याज्ञवल्क्य ने कहा) 'प्यारे आर्तभाग हाथ लाओ, इस बात को अकेले हम ही दोनों जानेंगे, हम इसको लोगों में नहीं (विचारेंगे) । दोनों ने (वहां से) निकल कर विचार किया । उन्होंने जो कुछ कहा, वह कर्म ही कहा । और

* यहां बद्ध पुरुष से अभिप्राय है, जिसको यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ।

जिसकी प्रशंसा की,वह कर्म ही की प्रशंसा की। निःसन्देह पुण्य कर्म से पुण्यात्मा बनता है, और पापकर्म से पापी बनता है * । तब जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया ॥ १३ ॥

तीसरा ब्राह्मण (भुज्यु ब्राह्मण)

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवाच—'मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम, ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम । तस्यासीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता, तमपृच्छाम,'कोसि'इति । सोऽब्रवीत्—'सुधन्वाऽऽङ्गिरसः'इति । तं यदा लोकानामन्तानपृच्छाम,अथैनमब्रूम,क्व पारिक्षता अभवन्'इति । क्व पारिक्षता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य!क्वपारिक्षता अभवन्' इति॥१॥

† अब इसको भुज्यु लाह्यायनि (लह्य का पोता) पूछने लगा उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! हम मद्रदेशों में विद्यार्थी के तौर पर‡ इधर उधर फिर रहे थे,फिरते फिराते हम पतञ्चल काप्य(कपिगोत्र) के घरों में पहुंचे । उसकी एक कन्या गन्धर्व § के वशीभूत थी ।

किन्तु कर्म परायण ही है (शंकराचार्य्य) * प्रश्न का अभिप्राय यह है, कि जब मनुष्य की सारी शक्तियें अपने २ कारण में मिल जाती हैं, तो फिर यह पुरुष किसके सहारे उनको फिर ग्रहण करता है, उत्तर यह है, कि यह सारी महिमा कर्म की है, कर्म के आश्रय यह फिर इन शक्तियों को ग्रहण कर संसार में आता है और वह पुण्यों से पुण्यात्मा और पापों से पापी बनता है ॥

† इस सारे ही ब्राह्मण का अभिप्राय समझ में नहीं आया ॥

‡ चरकाः—विद्या पढ़ने के लिये व्रत के आचरण करने से चरक कहलाते हैं अथवा चरक अध्वर्यु विशेष हैं । § पारिक्षित एक पुराना राजवंश है, जिस वंश के राजे अश्वमेध करते रहे हैं । अब वह

हमने उसको पूछा 'तू कौन है'। उसने (गन्धर्व ने) उत्तर दिया 'मैं सुधन्वा आङ्गिरस (गोत्र का) हूं'। और जब हमने उसको लोकों के अन्तों के विषय में पूछा,(अर्थात् इन सारे लोक लोकान्तरों का अन्त कहां है) तो हमने उसे कहा 'पारिक्षत* कहां थे' पारिक्षत कहां थे वह मैं तुझे पूछता हूं हे याज्ञवल्क्य पारिक्षत कहां थे ॥१॥

स होवाच—'उवाच वै सः,अगच्छन् वै तेतद्,यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्ति' इति। 'क न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्ति' इति? द्वात्रिᳫशतं वै देवरथान्ह्यान्ययं लोकः,तᳫसमन्तं पृथिवी द्विस्तावत् पर्येति,ताᳫसमन्तं पृथिवीं द्विस्तावत् समुद्रः पर्येति। तद् यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं, तावानन्तरेणाकाशः। तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्,तान् वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्, यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्' इति। एवमिव वै स वायुमेव प्रशशᳫस। तस्माद्वायुरेव व्यष्टिः,वायुः समष्टिः। अपपुनर्मृत्युं जयति, य एवं वेद। ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

उसने (याज्ञवल्क्य ने) कहा—'उसने (गन्धर्व ने) कहा था, कि वे वहां गए, जहां अश्वमेध यज्ञ करने वाले जाते हैं'। 'कहां अश्वमेध करने वाले जाते हैं'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) देवरथ (सूर्य) की बत्तीस दिन की जितनी यात्रा है, उतना

वंश पृथिवी से नाश होगया है। * गन्धर्व कोई अमानुषसत्व अथवा धिष्ण्य अग्नि ऋत्विग् देवता क्योंकि सत्वमात्र को ऐसा विज्ञान नहीं हो सक्ता (शंकराचार्य)

यह लोक है, उसके चारों ओर उससे दुगनी पृथिवी उसे घेरे हुए है.उससे दुगना समुद्र उस पृथिवी को चारों ओर से घेरे हुए है। सो जितनी छुरे की धारा वा मक्खी का पंख है, उतना मध्य में आकाश * है। इन्द्र † ने पक्षी बनकर उनको (उस आकाश में से गुजार कर) वायु को दे दिया, और वायु ने उनको अपने आप में धारण करके वहां पहुंचाया, जहां अश्वमेध यज्ञ करने वाले थे'। इस तरह पर उसने वायु की ही प्रशंसा की। क्योंकि वायु ही व्यष्टि है (अपने आपमें हरएक अलग२वस्तु है) और वायु ही समष्टि (सब वस्तुएं इकट्ठी) है। (जो इसको जानता है) वह फिर मृत्यु को जीत लेता है। तब भुज्यु लाह्यायनि चुप हो गया ॥२॥

चौथा ब्राह्मण (उषस्त ब्राह्मण) ‡

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच—'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व' इति ? 'एषत आत्मा सर्वान्तरः। 'कतमो याज्ञवल्क्य ! सर्वान्तरः' ? 'यः प्राणेन प्राणिति, स त आत्मा सर्वान्तरः। योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरः। यो व्यानेन व्यानीति स

* ब्रह्माण्ड के दोनों कपालों (छिलकों) के मध्य में आकाश अर्थात् अतिसूक्ष्म छेद है (शंकराचार्य) †इन्द्र=परमेश्वर अश्वमेध का अग्नि जिसका पूर्व १।२।३में 'तस्य प्राचीदिक् शिरः'इत्यादि वर्णन है(शंकरा०)

‡ पूर्व अश्वमेध आदि कर्मों का फल कहा है और वह मरने के पीछे होता है, अब इस फल के भोगने वाले का निर्णय करते हैं। मध्यन्दिन शतपथ में यह ब्राह्मण अगले पांचवें कहोल कौषीतकेय ब्राह्मण से पीछे आया है ॥

त आत्मा सर्वान्तरः। य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तरः। एष त आत्मा सर्वान्तरः"॥१॥

अब उसे उषस्त चाक्रायण (चक्र के पुत्र) ने पूछा। उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म* है, जो आत्मा सब के अन्दर है, वह मुझे बतलाओ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) यह तेरा आत्मा है, जो सब के अन्दर है। 'कौनसा है वह हे याज्ञवल्क्य! जो सब के अन्दर है'? (याज्ञवल्क्य ने कहा) 'जो प्राण से सांस लेता है, वह तेरा आत्मा सब के अन्दर† है, जो अपान से सांस अन्दर खींचता है, वह तेरा आत्मा सब के अन्दर है। जो व्यान से चेष्टा करता है, वह तेरा आत्मा सब के अन्दर है। जो उदान से ऊपर उठाता है, वह तेरा आत्मा सब के अन्दर है। यह तेरा आत्मा है, जो सब के अन्दर है॥ १॥

सहोवाचोषस्तश्चाक्रायणः,यथा विब्रूयाद् 'असौ गौरसावश्वः' इति। एवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति। यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म,य आत्मा सर्वान्तरः,तंमे व्याचक्ष्व'इति। 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः'? न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः,न श्रुतेः श्रोतारꣳशृणुयाः, न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरः, अतोऽन्यदार्तम्'। ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम॥ २॥

---

* यहां आत्मा को ब्रह्म कहा है, वह साक्षात् है क्योंकि अपना ज्ञान अर्थात् मैं हूं यह ज्ञान हर एक को है। और यह ब्रह्म अपरोक्ष है अर्थात् परब्रह्म की नाईं छिपा हुआ नहीं है॥

† मन और प्राण आदि के अन्दर है॥

उपस्त चाक्रायण ने कहा—' जैसे कोई कहे, कि वह गौ है, वह घोड़ा है, इसतरह पर यह बतलाया गया है, *जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सब के अन्दर है, वह मुझे बतलाओ'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'यह तेरा आत्मा सबके अन्दर है'। कौन है वह आत्मा हे याज्ञवल्क्य! जो सब के अन्दर है'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) दृष्टि के (असली), देखने वाले को तू नहीं देख सक्ता, श्रुति के (असली) सुनने वाले को तू नहीं सुन सक्ता, मति के(असली)माननें वाले को तू नहीं मान सक्ता,विज्ञान के(असली) जानने वाले को तू नहीं जान सक्ता, । यह तेरा आत्मा सब के अन्दर है, और हर एक वस्तु नष्ट होने वाली (दुखिया) है। तब उपस्त चाक्रायण चुप होगया ॥ २ ॥

पांचवां ब्राह्मण(कहोल ब्राह्मण)

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच—'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म,य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व' इति। एष त आत्मा सर्वान्तरः। 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः' ? योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा,या वित्तैषणा सा लोकैषणा, उभे ह्येते एषणे एव भवतः। तस्माद् ब्राह्मणः पाडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ-

* उपस्त फिर प्रश्न करता है,कि मैंने यह पूछा था,कि साक्षात्

मुनिः,अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः । स ब्राह्मणः केन स्याद् , येन स्यात् तेनेदृशएव । अतोऽन्यादार्त । ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥१॥

*अब उसे कहोल कौषीतकेय (कुषीतक का पुत्र) पूछने लगा । उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सब के अन्दर है, वह मुझे बतलाइये' । (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'यह तेरा आत्मा सब के अन्दर है' । "कौनसा हे याज्ञवल्क्य!सब के अन्दर है" । (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'जो भूख, प्यास, शोक, मोह बुढ़ापे और मृत्यु की पहुंचसे परे है । इसी आत्मा को जान कर ब्राह्मण पुत्रों की कामना † से धन की कामन से और (नए) लोकों‡ की कामना से ऊपर उठकर भिक्षावृत्ति से विचरते हैं । क्योंकि जो पुत्रों के लिये कामना है, वही धन के लिये कामना है, और जो धन के लिये कामना है, वही

अपरोक्ष ब्रह्म बतलाओ । तुझे वह साक्षात् दिखलाना चाहिये था । तुम साक्षात् न दिखला कर यह कहते हो कि जो प्राण से सांस लेता है वह आत्मा है इत्यादि । यह ऐसा ही उत्तर है, जैसे किसी से पूछा जाय, कि गौ वा घोड़ा मुझे साक्षात् दिखलाओ और वह उसे उत्तर दे, कि वह गौ है जो दूध देती है और जिसके गले में कम्बल सा लटकता है । और घोड़ा वह है जिस पर सवार होते हैं । इस तरह का तेरा उत्तर है । मैं यह नहीं पूछता, मैं तो यह पूछता हूं कि मुझे साक्षात् दिखलाओ । याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, कि हम जिस दृष्टि द्वारा दृश्य को देखते हैं जो उस दृष्टि का देखने वाला है,उसको तू किस से देख सक्ता है,अर्थात् वह अपने अनुभव से पाया जाता है उसको हाथ पकड़ कर नहीं दिखला सके ॥

* उषस्त के प्रश्न में आत्मा का शरीर से अलग होना निर्णय किया है, पर उसकी जो उच्च अवस्था है, उसका वर्णन नहीं हुआ, इस लिये कहोल ने फिर वही प्रश्न किया है ।

† देखो बृह । उ १ ४ । ४ । २२ ‡ पितृलोक और देवलोक ।

लोकों के लिये कामना है। क्योंकि ये दोनों कामनाएं ही है *।
इसलिये ब्राह्मण को चाहिये, कि जब वह पण्डिताई (विद्या) को
पूरा कर चुके, तो असली बल (आत्मविद्या) के द्वारा खड़ा होने
की इच्छा करे; और जब वह बल और पण्डिताई दोनों को पूरा
कर चुके, तो मुनि (योगी) बनकर रहे; और जब वह अमौन (जो
मुनि बनने से पहले लाभ किया है, अर्थात पण्डिताई और बल)
और मौन (मुनिपन) को पूरा कर चुके, तब वह ब्राह्मण है † वह
ब्राह्मण किस आचरण से रहे; जिससे रहे, उससे वैसा ही है‡ इससे
बिना सब कुछ दुःखिया है। तब कहोल कौषीतकेय चुप होगया१.

छटा ब्राह्मण (गार्गी ब्राह्मण)

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येतिहोवा-
च-'यदिद॰ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च, कस्मिन्नु खल्वा-

---

* एक कामना के साथ दूसरी कामना बन्धी हुई है। वह कामना चाहे फल के विषय में हो (जैसे तीनों लोकों के जय की कामना) और चाहे साधन के विषय में कामना हो (जैसे धन, पुत्र और पशुओं की कामना है) वह सारी कामना ही है। † कई टीकाकारों ने 'तस्मा...ब्राह्मणः' का यह अर्थ किया है, इसलिये ब्राह्मण को चाहिये, कि पण्डिताई को छोड़कर बालकपन से रहने की इच्छा करे और बालकपन और पण्डिताई सब कुछ त्याग कर मुनि बन कर रहे, और फिर अमौन और मौन दोनों को त्यागकर वह ब्राह्मण (ब्रह्मनिष्ठ) बने। ‡ जो ऐसा पहुंचा हुआ है, उसके लिये कोई दुःख नहीं, बन्धन नहीं। वह हरएक अवस्था में एकरस ही है। हरएक हालत इसके लिये एक जैसी है। यह उसकी प्रशंसा है। यह अभिप्राय नहीं, कि वह विरुद्ध आचरण भी कर सक्ता है, क्योंकि विरुद्ध आचरण तो होता ही आत्मा की दुर्बलता में है, जिसको वह बहुत पहले तर चुका है॥

प ओताश्च प्रोताश्च' इति?'वायौ गार्गि' इति। 'कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्च' इति ? ' अन्तरिक्षलोकेषु गार्गि' इति । कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? 'गन्धर्वलोकेषु गार्गि' इति। कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? 'आदित्य लोकेषु गार्गि' इति । कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? 'चन्द्रलोकेषु गार्गि' इति । 'कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? 'नक्षत्र लोकेषु गार्गि' इति । कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? देवलोकेषु गार्गि' इति । कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? 'इन्द्रलोकेषुगार्गि' इति । कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? प्रजापतिलोकेषुगार्गि'इति। 'कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? ब्रह्मलोकेषु गार्गि' इति। कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति?सहोवाच—'गार्गि माऽति प्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तद्,अनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि, गार्गि मातिप्राक्षीः' इति । ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥ ६ ॥

अब इसको गार्गी वाचक्नवी (वचक्नुकी पुत्री) पूछने लगी ।

उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य जब यह हरएक वस्तु जलों में ओतप्रोत (तनी बुनी) है, तब ये जल किसमें ओत प्रोत हैं' ? वायु में हे गार्गि ! तब वायु किस में ओत प्रोत है ? 'अन्तरिक्षलोकों में हे गार्गि' ! 'तब अन्तरिक्ष लोक किसमें ओत प्रोत हैं' ? 'गन्धर्वलोकों में हे गार्गि' ! 'तब गन्धर्वलोक किसमें ओत प्रोत हैं ? आदित्यलोकों में हे गार्गि' ! 'तब आदित्यलोक किसमें ओत प्रोत हैं' ? 'चन्द्र-लोकों में हे गार्गि ! 'तब चन्द्रलोक किसमें ओत प्रोत हैं' ? नक्षत्र लोकों में हे गार्गि' ! 'तब नक्षत्रलोक किसमें ओत प्रोत हैं' ? देव लोकों में हे गार्गि' ! 'तब देवलोक किसमें ओत प्रोत हैं' ? 'इन्द्र-लोकों में हे गार्गि' ! 'तब इन्द्रलोक किसमें ओत प्रोत हैं' ? 'प्रजा-पति (विराट्) लोकों में हे गार्गि' ! 'तब प्रजापतिलोक किसमें ओत प्रोत हैं' ? ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) लोकों में हे गार्गि' ! 'तब ब्रह्म लोक किसमें ओत प्रोत हैं' ? 'उसने कहा—'हे गार्गि ! अति प्रश्न मतकर, ऐसा न हो, कि तेरा सिर गिर जाए, जिस देवता के विषय में अतिप्रश्न नहीं होना चाहिये, तू उसके विषय में अतिप्रश्न करती है, हे गार्गि ! अतिप्रश्नमतकर* तब गार्गि वाचक्नवी चुप होगई॥१॥

सातवां ब्राह्मण (अन्तर्यामि ब्राह्मण)

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच—'मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानाः, तस्यासीद् भार्या गन्धर्वगृहीता, तमपृच्छाम 'कोऽसि' इति। सोऽब्रवीत्—'कबन्ध आथर्वणः' इति। सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च—'वेत्थ नु त्वं

---

* जिससे आगे प्रश्न नहीं होना चाहिये, तू उसके विषय में आगे प्रश्न मत कर, जो बात अनुमान का विषय नहीं, केवल शास्त्र से जानने योग्य है, उसको अनुमान से मत पूछ (शंकराचार्य)

काप्य तत्सूत्रं येनायं लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' इति। सोऽब्रवीत् पतञ्चलः काप्यः 'नाहं तद्भगवन्! वेद' इति। सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाᳫश्च 'वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमंच लोकं परं च लोकᳫसर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' इति। सोऽब्रवीत् पतञ्चलः काप्यः—'नाहं तद्भगवन्! वेद' इति। सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाᳫश्च। 'यो वै तत् काप्य सूत्रं विद्यात् तं चान्तर्यामिणमिति, स ब्रह्मवित्, सलोकवित्, स देववित्, स वेदवित्, स भूतवित्, स आत्मवित्, स सर्वविद्, इति। तेभ्योऽब्रवीत तदहं वेद। तच्चेत् त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाᳫस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे, मूर्धा ते विपतिष्यति' इति। 'वेद वा अहं गौतमतत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणम्' इति। 'यो वा इदं कश्चिद् ब्रूयाद्, 'वेद वेद' इति। यथा वेत्थ तथा ब्रूहि' इति ॥ १ ॥

अब इसको उद्दालक आरुणि (अरुण का पुत्र) पूछने लगा उसने कहा—' हे याज्ञवल्क्य ! हम मद्र देशों में पतञ्चल काप्य के घर यज्ञ (की विद्या) पढ़ते हुए ठहरे। उसकी पत्नी गन्धर्व के वशीभूत थी, हमने उसको पूछा 'तू कौन है'? उसने उत्तर दिया 'मैं कबन्ध आथर्वण(अथर्वा का पुत्र)हूं'। उस कबंध ने पतञ्चल काप्य को और याज्ञियों को (अर्थात् हम को जो पतञ्चल के शिष्य बनकर यज्ञ की

विद्या पढ़ते थे) कहा—'क्या हे काप्य ! तू उस सूत्र को जानता है, जिससे यह लोक और दूसरा लोक और सारे भूत (प्राणधारी) गूंदे हुए होते हैं (जैसे सूत में मनके)' ? पतञ्चल काप्य ने कहा— 'भगवन् मैं उसको नहीं जानता हूं' ? फिर उसने पतञ्चल काप्य को और याज्ञिकों को कहा—'क्या तू हे काप्य ! उस अन्तर्यामी को जानता है, जो इस लोक और दूसरे लोक और सारे भूतों को अन्दर रहकर नियम में रखता है,।'पतञ्चल काप्य ने कहा—'भगवन् मैं उसको नहीं जानता हूं' ? 'फिर उसने पतञ्चल काप्य को और याज्ञिकों को कहा—'हे काप्य ! जो उस सूत्र को और अन्तर्यामी को जानले, वह ब्रह्म का जानने वाला है, वह लोकों का जानने वाला है, वह देवताओं का जानने वाला है, वह वेदों का जानने वाला है, वह भूतों (प्राणधारियों) का जानने वाला है, वह आत्मा का जानने वाला है, वह सब का जानने वाला है। तब स्वयं उस (गन्धर्व)ने उनको जो बतलाया,वह मैं जानता हूं, सो हे याज्ञवल्क्य! यदि तू इस सूत्र और अन्तर्यामी को जाने बिना ब्रह्मा की गौओं को (गौएं जो उसकी भेंट कीगई हैं, जो सब से बढ़कर वेदों का जानने वाला है) हांकता है, तो तेरा सिर गिर जाएगा'। 'याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'मैं जानता हूं,हे गौतम ! (गौतम गोत्र वाले) उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को'। (उद्दालक ने कहा) यह जो कोई भी (=हरएक) कह सक्ता है,'मैं जानता हूं,मैं जानता हूं'। (यदि तू जानता है तो) जैसे तू जानता है, वैसे कहो * ॥ १ ॥

सहोवाच—'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं; वायुना वै गौतम

---

* यहां सूत्र से सूक्ष्मप्रकृति और अन्तर्यामी से तदन्तर्गत परमात्मा अभिप्रेत है ॥

सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संहृब्धानि भवन्ति,तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुः 'व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति, वायुना हि गौतम सूत्रेण संहृब्धानि भवन्ति'इति। 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य अन्तर्यामिणं ब्रूहि' इति ॥२॥ यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः,यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्। यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥३॥

उसने कहा—' हे गौतम ! वायु वह सूत्र है, वायु जो सूत्र है, उससे हे गौतम ! यह लोक और दूसरा लोक और सारे भूत गूंदे हुए हैं, इसलिये हे गौतम ! जब कोई पुरुष मरता है, तो कहते हैं। इसके अंग गिर गए हैं (ढीले पड़ गए हैं,) (जैसे तागे के निकल जाने से मणके गिर जाते हैं)। क्योंकि वायु जो सूत्र है, उससे हे गौतम ! गूंदे हुए होते हैं' । 'यह तो ऐसे ही है (ठीक है) हे याज्ञवल्क्य ! अब अन्तर्यामी को कहो' ? ॥ २ ॥ जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से अलग * है; जिस को पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर † है जो पृथिवी को अन्दर रह कर नियम में रखता है,यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥३॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरः,यमापो न विदुर्यस्यापःशरीरं। योऽपोऽन्तरो यमयति,एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥४

* पृथिवी के अभ्यन्तर है (शङ्कराचार्य) ; पर यहां ' पृथिव्याः, यह पञ्चमी विभक्ति है, पञ्चमी के अनुसार पृथिवी से अलग, अर्थ ही ठीक है॥ † जैसे हमारा यह शरीर है, हम इसके नियन्ता हैं, इसी प्रकार पृथिवी का नियन्ता परमात्मा है ॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरः, यमग्निर्नवेद यस्याग्निः शरीरं। योऽग्निमन्तरो यमयति,एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥५ योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरः, यमन्तरिक्षं न वेद, यस्यान्तरिक्षꣳशरीरं। योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयति, एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥६॥ यो वायौ तिष्ठन् वायो-रन्तरः, यं वायुर्नवेद, यस्य वायुः शरीरं। यो वायुम-न्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ७ ॥ यो दिवितिष्ठन् दिवोऽन्तरः,यं द्यौर्नवेद यस्य द्यौःशरीरं यो दिवमन्तरो यमयति,एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।८

जो जलों में रहता हुआ, जलों से अलग है,जिसको जल नहीं जानते, जिसका जल शरीर हैं, जो जलों को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥४ ॥ जो अग्नि में रहकर अग्नि से अलग है, जिसको अग्नि नहीं जानती, जिसका अग्नि शरीर है, जो अग्नि को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥५॥जो अन्तरिक्ष में रहकर अन्त-रिक्ष से अलग है, जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता, जिसका अन्त-रिक्ष शरीर है। जो अन्तरिक्ष को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ६ ॥ जो वायु में रहकर वायु से अलग है,जिसको वायु नहीं जानता,वायु जिसका शरीर है। जो वायु को अन्दर रहकर नियम में रखता है,यह तेरा आत्मा अन्त-र्यामी अमृत है ॥७॥ जो द्यौ में रहकर द्यो से अलग है। जिसको द्यौ नहीं जानता,जिसका द्यौ शरीर है। जो द्यौ को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ८ ॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः, यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं। य आदित्यमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥९॥ यो दिक्षु तिष्ठन् दिग्भ्योऽन्तरः, यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं। यो दिशोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १० ॥ यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकादन्तरः, यं चन्द्रतारकं न वेद, यस्य चन्द्रतारकं शरीरं। यो चन्द्रतारकमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥ य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरः, यमाकाशो न वेद, यस्याकाशः शरीरं। य आकाशमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१२॥ यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरः, यं तमो न वेद, यस्य तमः शरीरं। यस्तमोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१३॥

जो सूर्य में रहकर सूर्य से अलग है, जिसको सूर्य नहीं जानता, जिसका सूर्य शरीर है। जो सूर्य को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ९ ॥ जो दिशाओं में रहकर दिशाओं से अलग है, जिसको दिशाएं नहीं जानतीं, दिशाएं जिसका शरीर हैं। जो दिशाओं को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १० ॥ जो चन्द्र तारा में रहकर चन्द्र तारा से अलग है, जिसको चन्द्र तारे नहीं जानते, जिसका चन्द्र तारे शरीर हैं। जो चन्द्र तारों को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥११॥ जो आकाश में रहकर आकाश से अलग है, जिसको आकाश नहीं जानता, जिसका आकाश शरीर है। जो आकाश को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥१२॥

जो अन्धेरे में रहकर अन्धेरे से अलग है, जिसको अन्धेरा नहीं जानता, जिसका अन्धेरा शरीर है। जो अन्धेरे को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ १३ ॥

यस्तेजसि तिष्ठꣳस्तेजसोऽन्तरः, यं तेजो न वेद, यस्य तेजः शरीरं। यस्तेजोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, इत्यधिदैवतम्, अथाधिभूतम् ॥ १४ ॥ यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरः, यꣳसर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं। यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, इत्यधिभूतम्, अथाध्यात्मम् ॥१५॥

जो तेजमें रहकर तेज से अलग है, जिसको तेज नहीं जानता, जिसका तेज शरीर है। जो तेज को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह उसकी देवताओं में (अन्तर्यामिता) है, अब प्राणधारियों में बतलाते हैं ॥ १४ ॥ जो सारे भूतों (प्राणधारियों) में रहकर सारे भूतों से अलग है, जिस को सारे भूत नहीं जानते, जिसका सारे भूत शरीर हैं, जो सब भूतों को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, यह उस की प्राणधारियों में (अन्तर्यामिता) है, अब शरीर में (अन्तर्यामिता) बतलाते हैं ॥ १५ ॥

यःप्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरः, यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं। यः प्राणमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१६॥ यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरः, यं वाङ् न

वेद यस्य वाक् शरीरं। यो वाचमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥१७॥ यश्चक्षुषि तिष्ठँश्चक्षुषोऽन्तरः,यं चक्षुर्न वेद, यस्य चक्षुः शरीरं। यश्चक्षुरन्तरो यमयति,एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥१८॥ यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरः, यँश्रोत्रं न वेद, यस्य श्रोत्रँ शरीरं। यःश्रोत्रमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥ १९ ॥ यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरः यं मनो न वेद, यस्य मनः शरीरं। यो मनोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २०॥

जो प्राण में रहकर प्राणसे अलग है,जिसको प्राण नहीं जानता, जिसका प्राण शरीर है। जो प्राण को अन्दर रहकर नियम में रखता है,यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥१६॥ जो वाणी में रहकर वाणी से अलग है, जिसको वाणी नहीं जानती, जिसका वाणी शरीर है। जो वाणी को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥१७॥ जो नेत्र में रहकर नेत्र से अलग है, जिसको नेत्र नहीं जानता, जिसका नेत्र शरीर है। जो नेत्र को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥१८॥ जो श्रोत्र में रहकर श्रोत्र से अलग है, जिसको श्रोत्र नहीं जानता,जिसका श्रोत्र शरीर है। जो श्रोत्र को अन्दर रहकर नियम में रखता है,यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १९ ॥ जो मन में रहकर मन से अलग है, जिसको मन नहीं जानता, जिसका मन शरीर है। जो मन को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २० ॥

यस्त्वचि तिष्ठँस्त्वचोऽन्तरः,यं त्वङ्न वेद,यस्य त्वक् शरीरं। यस्त्वचमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २१॥ यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः, यं विज्ञानं न वेद, यस्य विज्ञानं शरीरं। यो विज्ञानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥२२॥यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरः,यं रेतो न वेद, यस्य रेतः शरीरं। यो रेतोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतो ऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतःश्रोता,ऽमतो मन्ता,ऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोस्ति द्रष्टा,नान्योऽतोऽस्ति श्रोता,नान्योऽतो ऽस्ति मन्ता, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः,अतोऽन्यदार्तम्। ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ २३ ॥

जो त्वचा में रहकर त्वचा से अलग है, जिसको त्वचा नहीं जानती, जिसका त्वचा शरीर है। जो त्वचा को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥२१॥जो आत्मा*में रहकर आत्मा से अलग है,जिसको आत्मा नहीं जानता जिसका आत्मा शरीर है। जो आत्मा को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥२२॥ जो बीज में रहकर बीज से अलग है,जिसको बीज नहीं जानता, जिसका बीज

* हमने यहां विज्ञान का अर्थ आत्मा लिया है। क्योंकि माध्यान्दिन पाठमें'विज्ञाने'की जगह 'आत्मनि' आया है और ब्रह्म सूत्र १।२।२० में वेद व्यास ने और उसके भाष्य में स्वामि शंकराचार्य ने भी माध्यन्दिन पाठ के सहारे पर यही अर्थ ठीक माना है॥

शरीर है। जो बीज को अन्दर रहकर नियम में रखता है,यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, जो देखा नहीं जाता, और देखने वाला है, जो सुना नहीं जाता, और सुनने वाला है, जो ख्याल में नहीं आता, और ख्याल करने वाला है, जो जाना नहीं जाता, और जानने वाला है। इससे बढ़कर कोई देखने वाला नहीं, इससे बढ़कर कोई सुनने वाला नहीं, इससे बढ़कर कोई ख्याल करने वाला नहीं, इससे बढ़कर कोई जानने वाला नहीं, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इस से भिन्न सब दुःखिया है। तब उद्दालक आरुणि चुप हो गया ॥ २३ ॥

आठवां ब्राह्मण (गार्गी ब्राह्मण)

सं०-गार्गी पहले चुप होचुकी है,अब अन्तर्यामी का निर्णय सुन कर उसके शुद्ध स्वरूप की जिज्ञासा से फिर प्रश्न आरम्भ करती है-

अथ ह वाचक्नव्युवाच—'ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताह-मिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि। तौ चेन्मे वक्ष्यति, न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेता' इति । 'पृच्छ गार्गि'इति॥१॥सा होवाच—'अहंवै याज्ञवल्क्य काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्रउज्ज्यंधनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेद्, एवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां,तौ मे ब्रूहि'इति। 'पृच्छ गार्गि' इति॥२॥साहोवाच—'यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवः, यदवाक् पृथिव्याः,यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं च' इति॥३॥सहोवाच—'यदूर्ध्वं गार्गि ! दिवः, दिवाक् पृ-

थिव्याः,यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे,यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते,आकाशे तदोतं च प्रोतं च' इति ॥४॥

* अब वाचक्नवी (गार्गी) कहने लगी—'भगवान् ब्राह्मणो ! हां मैं इसको दो प्रश्न पूछूंगी, यदि उन दोनों को मुझे कह देगा, (दोनों का उत्तर देदेगा) तो तुम में से कोई भी कदापि इस ब्रह्मवेत्ता को नहीं जीतने वाला होगा' (उन्होंने कहा) 'पूछ हे गार्गि' ! ॥१॥ उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! जैसे कोई काशी (देश) का वा विदेह (देश) का उग्रपुत्र (तेजस्वी शूरवीर का पुत्र, अर्थात् शूर वीर वंश में उत्पन्न हुआ) अपने उतरे हुए चिल्ले (गोशे,रस्सी) वाले धनुष में चिल्ला चढ़ाकर, और शत्रुओं को पूरा २ बींधने वाले, नोकों वाले दो वाण हाथ में लेकर सामने खड़ा होजाए,ठीक इसी तरह मैं दो प्रश्नों से तेरे सामने खड़ी हुई हूं, उन दोनों को मुझे बतला' । (याज्ञवल्क्य ने कहा) 'पूछ हे गार्गि ! ॥२॥ उसने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जो द्यौ से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो इस द्यौ और पृथिवी के मध्य में हैं, और जिसको होचुका, होता हुआ और होगा, ऐसा कहते हैं । वह किसमें ओत प्रोत है † ॥३॥ उसने कहा—'हे गार्गि ! जो द्यौ से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो इस द्यौ और पृथिवी के बीच में है,जिसको होचुका,होता हुआ,और होगा ऐसा कहते हैं, वह आकाश में ओत है, और प्रोत है ॥४॥

---

* गार्गी पहले याज्ञवल्क्य के रोकने पर सिर के गिर जाने के डर से चुप होगई थी, अब फिर पूछने के लिये ब्राह्मणों से अनुज्ञा मांगती है (शंकराचार्य्य) ॥ † उद्दालक के उत्तर में कहा है कि वायु जो सूत्र है, सब कुछ उसी में ओत प्रोत है । अब वह सूत्र जो द्यौ और पृथिवी के अन्दर और वार पार फैल रहा है, वह किस में ओत प्रोत है, यह गार्गी का प्रश्न है (शंकराचार्य्य) ॥

साहोवाच—'नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य ! यो म एतं व्यवोचः, अपरस्मै धारयस्व' इति । 'पृच्छ गार्गि' इति ॥५॥ साहोवाच-'यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवः, यदवाक् पृथिव्याः यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं च' इति॥६॥ सहोवाच—'यदूर्ध्वं गार्गि ! दिवः, यदवाक् पृथिव्याः, यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इति । कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति ॥ ७ ॥

उसने कहा—'याज्ञवल्क्य ! तुझे नमस्कार हो, जिस ने मेरे इस प्रश्न की विवेचना करदी है, अब दूसरे के लिये तय्यार हो' 'पूछ हे गार्गि' ! ॥५॥ उसने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! जो द्यौ से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो इस द्यौ और पृथिवी के मध्य में है, जिस को हो चुका, होता हुआ और होगा ऐसा कहते हैं, वह किस में ओत और प्रोत है * ॥६॥ उसने कहा 'हे गार्गि ! जो द्यौ से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो इस द्यौ और पृथिवी के मध्य में है, जिस को होचुका, होता हुआ और होगा, ऐसा कहते हैं, वह आकाश में ही ओत और प्रोत है'। (गार्गी ने कहा) वह आकाश किस में ओत और प्रोत है ? ॥ ७ ॥

सहोवाच—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवद-

* पहले प्रश्न से इस प्रश्न में कोई भेद नहीं है, किन्तु जो इस का उत्तर दिया गया है, उस पर एक नया प्रश्न उठाने के लिये फिर वही प्रश्न किया है ॥

न्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घ मलोहित मस्नेहमच्छाय मतमोऽवाय्व नाकाश मसङ्गमरस मगन्धमचक्षुष्कम-श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्क मप्राणममुखममात्रमनन्तर-मबाह्यं,न तदश्नाति किञ्चन,न तदश्नाति कश्चन॥८॥ एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः,एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः,एतस्य वा अक्षरस्य प्र-शासने गार्गि ! निमेषा मुहूर्ता रात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्योऽन्या नद्यःस्यन्द-न्ते श्वेतेभ्यःपर्वतेभ्यः,प्रतीच्योऽन्याः,यां यां च दिश-मनु,एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनु-ष्याः प्रशꣳसन्ति,यजमानं देवाः, दर्वीं पितरोऽन्वा-यत्ताः ॥ ९ ॥ यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँ-ल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्य-न्तवदेवास्य तद् भवति। यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदि-त्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति सकृपणः,अथय एतदक्षरं गार्गि! विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

उसने कहा—'हे गार्गि ! इस को ब्राह्मण (ब्रह्म के जानने वाले) अक्षर (अविनाशि; कूटस्थ) कहते हैं,वह न मोटा है,न पतला है, न छोटा है न लम्बा है,न (अग्नि की नाईं) लाल है,विना स्नेहके

है, विना छाया के है, विना अन्धेरे के है, न वायु है, न आकाश है, वह असङ्ग* है, रसरहित है, गन्ध रहित है, उसके नेत्र नहीं, उसके कान नहीं, उसके वाणी नहीं, उसके मन नहीं, उसके तेज नहीं, उसके प्राण नहीं, उसके मुख नहीं, उसकी मात्रा (परिमाण) नहीं, उसके कुछ अन्दर नहीं, उसके कुछ बाहर नहीं। न वह किसी को भोगता है, न कोई उसको भोगता है ॥ ८ ॥ इसी अक्षर के प्रशासन (ज़बरदस्त हुक्म) में हे गार्गि! सूर्य और चांद † मर्यादा में खड़े हैं, इसी अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि! द्यौ और पृथिवी मर्यादा में खड़े हैं, इसी अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि! पलक मुहूर्त, दिन रात, आधे महीने (पक्ष) महीने, ऋतु और बरस अपनी २ मर्यादा में स्थित हैं इसी अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि! कई नदियां पूर्व की ओर बहती हैं, सुफेद पर्वतों से निकलकर, दूसरी पश्चिम की ओर बहती हैं। चाहे जिस किसी दिशा में बहती हैं, इसी के शासन में बहती हैं। इसी के शासन में हे गार्गि! दानियों की लोग प्रशंसा करते हैं। देवता यजमान के अनुगत होते हैं, और पितर दर्वीहोम ‡ के अनुगत होते हैं॥९॥ जो इस अक्षर को जाने विना हे गार्गि! इस लोक में होम करता है, यज्ञ करता है, वा तप तपता है, वह

---

* किसी से जुड़ा हुआ नहीं, जैसे गूंद से जुड़ा हुआ होता है॥

† दीपक से अन्धेरा दूर होता है, जो यह जानता है, वह अन्धेरा दूर करने और प्रकाश में कार्य करने के लिये दीपक जलाता है, इसी प्रकार सूर्य चांद जो दिन और रात के दो दीपक हैं, ये सारी दुनियां का अन्धेरा दूर करने और कार्य निर्वाह में प्रकाश देने के लिये जिसने जलाए हैं और जिसके नियम में स्थिर रहते हैं, वह परमात्मा है। इसी प्रकार सारे ब्रह्माण्ड की व्यवस्था एक प्रशासक (हाकिम) के अधीन है, जैसे राज्य की व्यवस्था राजा के अधीन होती है॥ ‡ जो न किसी की प्रकृति हो, न विकृति हो, वह दर्वी होम है। (आनन्द गिरि)

चाहे इसका अनेक हज़ारों बरस भी हो, अन्तवाला ही है। जो इस अक्षर को जाने बिना हे गार्गि! इस दुनियां से चलता है, वह कृपण (दया का पात्र) है, और जो इस अक्षर को जान कर हे गार्गि! इस दुनिया से चलता है, वह ब्राह्मण है ॥ १० ॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्ट्रश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातंविज्ञातृ। नान्यदतोऽस्तिद्रष्टृ,नान्यदतोऽस्तिश्रोतृ,नान्यदतोऽस्तिमन्तृ,नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ। एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'। इति ॥ ११ ॥

यही अक्षर हे गार्गि! स्वयं अदृष्ट हुआ देखने वाला है, अश्रुत हुआ सुनने वाला है; अमत हुआ मानने वाला है, अज्ञात हुआ जानने वाला है। इससे बढ़कर कोई देखने वाला नहीं, इससे बढ़कर कोई सुनने वाला नहीं, इससे बढ़कर कोई मनन करने वाला नहीं, इससे बढ़कर कोई जानने वाला नहीं। यह वह अक्षर है जिस में, हे गार्गि! आकाश ओत और प्रोत है (यही परम ब्रह्म है। इस को पाकर ही मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है) ॥ ११ ॥

साहोवाच—'ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहुमन्येध्वं, यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं। न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेता'इति। ततो ह वाचक्नव्युपरराम॥१२

तब वह (गार्गी) बोली—पूजनीय ब्राह्मणो! यही बहुत समझो, जो इससे नमस्कार करके छूटजाओ। तुम में से कोई भी इस ब्रह्मवादी को कदापि नहीं जीतेगा। तब वाचक्नवी चुप होगई ॥१२॥

नवां ब्राह्मण (शाकल्य ब्राह्मण)

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ 'कति देवा याज्ञव-

ल्क्य' इति ? स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे, यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते 'त्रयश्च त्रीच शता, त्रयश्च त्रीच सहस्रा' इति। ओमितिहोवाच। 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति ? 'त्रयस्त्रिꣳशद्' इति। ओमितिहोवाच। 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति ? 'षड्' इति। ओमितिहोवाच। 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति ? 'त्रयः' इति। ओमितिहोवाच। कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति ? 'द्वौ' इति। ओमितिहोवाच। 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति? 'अध्यर्ध' इति। ओमितिहोवाच। 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति ? 'एकः' इति। ओमिति होवाच। 'कतमे ते त्रयश्च त्रीच शता त्रयश्च त्रीच सहस्रा' इति ॥ १ ॥

सहोवाच—'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रियꣳशत्त्वेव देवाः' इति। 'कतमे ते त्रयस्त्रिꣳद्' इति। 'अष्टौ वसवः एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशद्, इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशौ' इति॥ २॥ 'कतमे वसवः' इति। 'अग्निश्च पृथिवीच, वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः, एतेषु हीदꣳसर्वꣳ हितमिति तस्माद्वसव' इति॥३॥ 'कतमे रुद्राः' इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः। ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद् यद्रोदयन्ति, तस्मा-

रुद्राः' इति ॥४॥ 'कतमे आदित्याः' इति । 'द्वादश वै मासाःसंवत्सरस्यैत आदित्याःएते हीदᳪसर्वमाददाना यन्ति,तेयत्सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति

* अब उसको विदग्ध शाकल्य (शकल का पुत्र) पूछने लगा 'कितने देवता हैं हे याज्ञवल्क्य' ! उस (याज्ञवल्क्य) ने इसी निविद् से निश्चय किया, जितने वैश्वदेव (शास्त्र) की निविद् † में कहे गए हैं अर्थात् तीन और तीन सौ तीन (३०३) और तीन हज़ार तीन (३००३), उसने कहा हां (ठीक है) । (फिर पूछा) कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य'? 'तेतीस' । उसने कहा हां (और फिर पूछा) कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य ? 'छः' उसने कहा हां (और फिर पूछा) 'कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य'? 'तीन' उसने कहा हां (और फिर पूछा) 'कितने हैं देवता, हे याज्ञवल्क्य' ? ' दो ' । उसने कहा 'हां' (और फिर पूछा)'कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य' ? 'अध्यर्ध (डेढ़)' उसने कहा हां (और फिर पूछा) 'कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य'? 'एक' उसने कहा हां । (अच्छा तो वे) 'तीन और तीन सौ और तीन और तीन हज़ार कौन से हैं' ॥१॥ उसने कहा ' ये (३०३ और ३००३) इन (तेतीस) की ही विभूतियें हैं, वस्तुतः तेतीस ही देवता हैं । 'कौन से वे तेतीस हैं' आठ वसु हैं, ग्यारह रुद्र हैं, और बारह आदित्य हैं, और इन्द्र और प्रजापति तेतीसवें हैं ॥२॥ 'वसु कौन से हैं' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) अग्नि और

---

* पूर्व जिस अविनाशी परब्रह्म की सर्वत्र अन्तर्यामिता दिखलाई है, उसी का शुद्ध स्वरूप गार्गी के द्वितीय प्रश्न के उत्तर में दिखलाया है । अब उसी के व्यष्टि स्वरूप को शाकल्य के उत्तर में दिखलाते हैं ॥ † निविद्=देवताओं की संख्या के कहने वाले कई एक मन्त्र पद जो वैश्वदेवशास्त्र में कहे जाते हैं (शंकराचार्य)

पृथिवी, वायु और अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये वसु है। क्योंकि हरएक वस्तु इन्हीं में रक्खी हुई है, इसलिये वसु है * ॥३॥ 'कौन से रुद्र हैं'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ये जो पुरुष में दस प्राण हैं, (अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय) और ग्यारहवां मन है। वे जब (मरने के समय) इस मरने वाले शरीर से निकलते हैं, तब (उनके सम्बन्धियों को) रुलाते हैं, सो जिस लिये रुलाते हैं, (रोदयन्ति) इस लिये रुद्र हैं ॥४॥ 'कौन से आदित्य हैं' बरस के बारह महीने ये आदित्य हैं। क्योंकि हरएक वस्तु को (मनुष्यों की आयु और उन के कर्मों के फलों को) लेते हुए जाते हैं, जिस लिये लेते हुए जाते हैं, (आददाना यन्ति) इसलिये आदित्य हैं ॥ ५ ॥

'कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिः' इति? 'स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिः' इति। 'कतमः स्तनयित्नुः' इति? 'अशनिः' इति। कतमो यज्ञः' इति? 'पशवः' इति ॥६॥ 'कतमे षड्' इति? 'अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षड्, एते हीदꣳसर्वꣳषड्' इति ॥७॥

'कौन इन्द्र है और कौन प्रजापति है'? 'कड़कने वाला ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है'? 'कौन कड़कने वाला है'? 'बिजली'? 'कौन यज्ञ है'? (यज्ञिय) 'पशु' † ॥६॥ 'कौन छः (देवता)

* तीनो देवता और तीनों लोक और चन्द्र और नक्षत्र ये आठ वसु इसलिये हैं, कि प्राणियों के कर्मों का फल इनके आश्रय मिलता है, उनके शरीर इन्द्रिय इन्हीं से बनते हैं, और इन्हीं में वह फल भोगते हैं। इस तरह पर सारे प्राणियों के निवास का हेतु हैं, इसलिये वसु हैं ॥ † यज्ञ अमूर्त है, उसका अपना रूप कोई नहीं,

हैं' ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) अग्नि और पृथिवी, वायु और अन्तरिक्ष, सूर्य और द्यौ, ये छः हैं । क्योंकि सब कुछ यह छः हैं* ॥७

'कतमे ते त्रयो देवाः' इति? 'इम एव त्रयो लोकाः, एषु हीमे सर्वे देवाः' इति । 'कतमौ तौ द्वौ देवौ' इति? 'अन्नं चैव प्राणश्च' इति । 'कतमोऽध्यर्धः' इति? 'योऽयं पवते' इति ॥८॥ तदाहुः—'यदयमेक इवैव पवते, अथ कथमध्यर्धः' इति ? 'यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्, तेनाध्यर्धः' इति । 'कतम एको देवः' इति ? 'प्राण' इति । स ब्रह्मत्यदित्याचक्षते ॥ ९ ॥

'कौन वे तीन देवता हैं' ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'यही तीनों लोक, क्योंकि इन्हीं (तीनों) में ये सारे देवता हैं' । 'कौन वे दो देवता हैं' ? 'अन्न और प्राण' † । 'कौन अध्यर्ध (डेढ़ देवता) है' 'जो यह बहता है' (अर्थात् वायु) ॥८॥ इस पर कहते हैं, (आक्षेप करते हैं) 'कि जब यह (वायु) एक ही बहता है, तो यह अध्यर्ध (डेढ़) कैसे ? (उत्तर यह है) कि जिस लिये वायु में यह हरएक वस्तु उगी और बढ़ी है इसलिये अध्यर्ध ‡ है' । 'कौन

इसलिये यज्ञ के साधनों को ही यज्ञ का रूप बतलाया है, अर्थात् पशु यज्ञ के साधन हैं, इसलिये उनको यज्ञरूप कहा है (शंकर।च.र्थ)

* तीन लोक और उनके तीन देवता, इन्हीं छः के अन्दर सब कुछ आजाता है, शेष सारे ३३ देवता इन्हीं का अवान्तर रूप हैं ।

† जीवन प्राण है, और उसकी स्थिति के लिये जो कुछ है, वह सब अन्न है, इस सृष्टि में हरएक वस्तु या तो जीवन रखने वाली है, या जीवधारी के लिये बनी है ॥ ‡ अर्थात् यहां अध्यर्ध डेढ के अर्थ में नहीं, किन्तु अध्यार्ध्नोत्=उगी बढी के अर्थ में है ॥

सा एक देवता है' ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'प्राण' (सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ) है, और उसको वह (त्यद्) ब्रह्म कहते हैं * ॥ ९ ॥

संगति—जिस ब्रह्मका वर्णन पूर्व देवताओं के रूप (शबल रूप) में है, उसी का वर्णन अब दूसरी रीति पर करते हैं :—

पृथिव्येव यस्यायतनं मग्निर्लोको मनोज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳस वै वेदिता-स्याद् याज्ञल्क्य'। 'वेद वा अहं तं पुरुषꣳसर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ। य एवायं शारीरःपुरुषःस एषः'। 'वदैव शाकल्य तस्य का देवता'इति।अमृतमितिहोवाच ।१०।

(शाकल्य ने कहा†) पृथिवी ही जिसका शरीर है, अग्नि

---

* देवताओं का एकत्व और नानात्व इसप्रकार है । कि एक ही परब्रह्म परम देव है, वह अपने शुद्ध स्वरूप में 'न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन' है (देखो बृ०उ०३।८।८) और वह शबलरूप में अपनी विविध रचनाओं में विविध शक्तियों से प्रकाशित हो रहा है 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'इसप्रकार अनन्तरूपों में उस की अनन्त शक्तियें प्रकाशित हो रही हैं। वही सारे उसके शबलरूप जो उसकी दिव्य शक्तियों को प्रकाशित करते हैं,देवता है,वे अनगिनत हैं,तथापि उन सब का इन में अन्तर्भाव होजाता है, जो संख्या उनकी वैश्वदेव निविद में कही है और फिर उनका भी तेतीस आदि में अन्तर्भाव होते हुए अन्त में एक ही सूत्रात्मा में उनका अन्तर्भाव है । सूत्रात्मा सारे देवताओं की समष्टि है । इसका सविस्तर वर्णन वेदोपदेश प्रथम भाग में लिख दिया है ॥ † यहां भी शाकल्य और याज्ञवल्क्य का ही सम्वाद है । और इनमें से प्रश्न कर्ता शाकल्य है और उत्तर दाता याज्ञवल्क्य है, इसलिये यहां प्रश्न का हिस्सा शाकल्य के साथ सम्बद्ध किया गया है, उसके पीछे 'वेद वा'''स एषः' यह वचन याज्ञवल्क्य का है, क्योंकि यह प्रश्न के उत्तर में कहा है, अब शाकल्य के प्रश्न का उत्तर देकर अपनी बारी में याज्ञवल्क्य स्वयं

लोक (=दृष्टि) है और मन ज्योति है, जो उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जानसके, वह जानने वाला (विद्वान्) है हे याज्ञवल्क्य! (याज्ञवल्क्य ने कहा) जानता हूं मैं उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को वह यह है जो यह शरीर में पुरुष है। पर कहो शाकल्य उसका देवता*कौन है। उसने कहा अमृत है †

'काम एव यस्यायतनꣳहृदयं लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳस वै

इस पर प्रश्न करता है 'वदैव शाकल्य तस्य का देवता' शाकल्य का उत्तर यह है 'अमृतम्'। जब याज्ञवल्क्य ने शाकल्य के प्रश्नों का उत्तर देदिया, तो उसका भी हक है, कि उस पर प्रश्न करे। सो याज्ञवल्क्य ने उससे अधिक कठिन प्रश्न किया है। स्वामि शंकराचार्य यहां याज्ञवल्क्य को प्रश्न करने वाला कहीं नहीं मानते, और इसलिये वे 'वदैवशाकल्य' इतना ही याज्ञवल्क्य का वचन मानते हैं और फिर इस ख्याल से कि वक्ता तो याज्ञवल्क्य ही है वह प्रष्टा (पूछने वाले, शाकल्य) को 'वद' कैसे कह सका है, इसलिये 'वदैव' की बाबत लिखते हैं, 'पृच्छेवेत्यर्थः' और इसके पीछे 'तस्य का देवता' यह शाकल्य का प्रश्न और 'अमृतम्' यह याज्ञवल्क्य का उत्तर बतलाते हैं। सो यह असन्दिग्ध निर्णय करना कि कितना पाठ किसने कहा है, कठिन है। इन खण्डों में यदि याज्ञवल्क्य को ही प्रश्न करने वाला मान लिया जाए, तो यह खण्ड इस तरह संगत हो सके हैं। कि 'पृथिव्येव···स्यात्' यह याज्ञवल्क्य का प्रश्न, 'याज्ञवल्क्य···स एषः' यह शाकल्य का उत्तर। फिर 'वदैव···देवता' याज्ञवल्क्य का प्रश्न और 'अमृतम्' यह शाकल्य का उत्तर होगा। पर शाकल्य का प्रश्न कर्ता होना ही अधिक सम्भव है॥ * इस प्रकरण में देवता से अभिप्राय है, जिससे जिस की उत्पत्ति होती है (जैसे अन्न से शरीर की) वह उसका देवता है। (शंकराचार्य)

† अमृत=खाए हुए अन्न का रस, जिससे रेज उत्पन्न होता है, और जो बीज के आश्रय जीवन का हेतु बनता है (शङ्कराचार्य)

वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य’ ? वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ, य एवायं काममयः पुरुषः स एषः’ । ‘वदैव शाकल्य तस्य का देवता’ इति ? ‘स्त्रियः’ इति होवाच ॥ ११ ॥

(शाकल्य ने कहा) काम जिसका शरीर है, हृदय लोक है, मन ज्योति है, जो उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान सके, वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य ! (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) जानता हूं, मैं उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को । वह यह है जो यह काममय पुरुष है । पर कहो, हे शाकल्य ! उसका देवता कौन है ? उसने कहा ‘स्त्रियें’*॥११॥

‘रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳसवै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य’। ‘वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ, य एवासावादित्ये पुरुषः स एषः । वदैव शाकल्य तस्य का देवता’ इति । सत्यमिति होवाच॥१२

रूप ही जिसका शरीर है, आंख लोक है, मन ज्योति है, जो उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान सके, वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) जानता हूं मैं उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जिसके विषय में तू मुझे कहता है, वह यह है, जो यह सूर्य में पुरुष है, कहो हे शाकल्य ! उसका देवता कौन है । उसने कहा ‘सत्य’ † ॥१२॥

---

* स्त्रियों से ही काम की दीप्ति होती है (शंकराचार्य) † सत्य=आंख क्योंकि आंख से सूर्य की उत्पत्ति है, “चक्षोः सूर्योऽजायत” (शंकराचार्य)

'आकाश एव यस्यायतनꣳश्रोत्रं लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनःपरायणꣳस वै वेदिता स्याद्‌ याज्ञवल्क्य'। 'वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ, यएवायं श्रोत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एषः, वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति। 'दिशः' इति होवाच ॥ १३ ॥

(शाकल्य ने कहा) आकाश ही जिसका शरीर है, श्रोत्र लोक है और मन ज्योति है, जो उस, हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान सके। वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य! (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया)जानता हूं मैं उस हरएक आत्माके परम आश्रय पुरुष को, जिसके विषय में तू मुझे कहता है। वह यह है,जो यह सुनने वाला और उत्तर देने वाला*पुरुष है।पर कहो शाकल्य उसका देवता कौन है, (शाकल्य ने उत्तर दिया) दिशाएं ॥१३॥

'तम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनःपरायणं स वै वेदिता स्याद्‌ याज्ञवल्क्य। वेद व्रा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं,य एवायं छायामयः पुरुषः स एषः, वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति। 'मृत्युः' इति होवाच ॥१४॥

(शाकल्य ने कहा) 'अन्धेरा जिस का शरीर है हृदय लोक है और मन ज्योति है 'जो उस, हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान सके, वह जानने वाला है,हे याज्ञवल्क्य'!

---

* देखो बृह० उप० २।५।६॥

(याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'जानता हूं मैं, उस, हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को, जिस के विषय में तू कहता है, वह यह है जो यह छायामय * पुरुष है। कहो शाकल्य उसका देवता कौन है'। उसने कहा 'मृत्यु' ॥१४॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षु र्लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनःपरायणं स वै वेदिता स्याद्र याज्ञवल्क्य। वेद वा अहं तं पुरुष सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एषः। वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति। 'असुः' 'इतिहोवाच'॥

(प्रकाशक) रूप † ही जिसका शरीर हैं, आंख लोक है और मन ज्योति है, जो उस, हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जानता है, वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य! (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) जानता हूं मैं उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को, जिसके विषय में तू कहता है, वह यही है जो यह शीशे में ‡ पुरुष है। कहो शाकल्य उसका देवता कौन है (शाकल्य ने उत्तर दिया) प्राण § ॥ १५ ॥

'आपएव यस्यायतन हृदयं लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायण सवै वेदिता-

---

* छायामय=अज्ञानमय (शंकराचार्य) † १२वें खण्ड में रूप सामान्य कहे हैं और यहां उन रूपों से अभिप्राय है जो चमकने वाले हैं॥ ‡ शीशे का रूप इतना स्वच्छ है, कि उसमें प्रतिबिम्ब दिखाई देता है॥ § प्राण (बल) से शीशे आदि को घिसे, तो उसका रूप अधिक चमकता है, जो प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के अधिक योग्य बन जाता है, इस तरह पर प्राण प्रतिबिम्ब का कारण है वा देवता है (आनन्दगिरि)

स्याद् याज्ञवल्क्य'। 'वेदवा अहं तं पुरुषꣳसर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ, य एवायमप्सु पुरुषः स एषः। 'वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति 'वरुणः' इति होवाच॥१६

(शाकल्य ने कहा) जल जिसका शरीर है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, जो उस, हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान सके, वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'जानता हूं मैं उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को' जिसके विषय में तू कहता है। वह यह है जो यह जलों में पुरुष है। 'कहो शाकल्य उसका देवता कौन है'। उस ने कहा 'वरुण' ॥ १६ ॥

'रेत एव यस्यायतनꣳहृदयं लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳसवै वेदिता-स्याद् याज्ञवल्क्य'। 'वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्म-नः परायणं यमात्थ; य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एषः। वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति। 'प्रजापतिः' इति होवाच ॥१७॥ शाकल्येतिहोवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा अंगारावक्षयणमक्रता३इति' ॥१८॥

बीज ही जिसका शरीर है हृदय लोक है और मन ज्योति है, जो उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जानता है वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) जानता हूं मैं उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को, जिसके विषय में तू कहता है। वह यह है जो यह पुत्रमय पुरुष है। अब कहो शाकल्य उसका देवता कौन है? उसने कहा प्रजापति ॥ १७ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—'हे शाकल्य तुझे इन ब्राह्मणों ने (जो आप वाद में आने से झिजकते हैं) संडासी * बनाया है ॥ १८ ॥

याज्ञवल्क्येतिहोवाच शाकल्यः—'यदिदं कुरु पञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः,किं ब्रह्म विद्वान्' इति? 'दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठाः' इति । 'यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥ किं देवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसि' इति । 'आदित्येदेवतः' इति । स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठितः'इति । 'चक्षुषि'इति । 'कस्मिन्नु चक्षुःप्रतिष्ठितम्' इति । 'रूपेषु' इति । चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति' । 'कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानि' इति । 'हृदये' इति होवाच । हृदयेन हि रूपाणि जानाति, हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्ति' इति । 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ २० ॥

शाकल्य ने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! तूने जो यह कुरुपञ्चालों के ब्राह्मणों को उलांघकर कहा है (कि आप डरकर तुझे इन्होंने

---

* अङ्गारावक्षयण=जिस से (आग के) अङ्गारे परे हटाए जाते हैं अर्थात् संडासी । अव पूर्वक क्षी धातु का अर्थ परे हटाना है अभिप्राय यह है कि आग में से दधकता हुआ अङ्गारा निकालने के लिये हाथ जलने के भय से संडासी को आगे कर देते हैं,इसी तरह तेरे साथी ब्राह्मणों ने एक ब्रह्मिष्ठ का क्रोधपात्र बनने से स्वयं डर कर तुझे आगे कर दिया है और तू अपने आपको दग्ध होता हुआ नहीं समझता ॥ माध्यन्दिन पाठ 'अङ्गारावक्षयणं'की जगह'उल्मुकावक्षयणं'पाठ है उल्मुक जलती हुई लकड़ी को कहते हैं ॥

संडासी बनाया है) तूने किस * ब्रह्म को जानते हुए (इस तरह उनको झिड़का है)? (याज्ञवल्क्य ने कहा) मैं दिशाओं को उनके देवताओं और उनकी प्रतिष्ठाओं के साथ जानता हूं। (शाकल्य ने कहा) 'यदि तू दिशाओं को देवताओं और प्रतिष्ठाओं के साथ जानता है (तो कहो) ॥१९॥ † पूर्व दिशा में तेरा देवता कौन ‡ है? 'सूर्य'। वह सूर्य किस में प्रतिष्ठित है (कायम) है? आंख में। आंख किसमें प्रतिष्ठित है? 'रंगों में' 'क्योंकि आंख से वह रंगों को देखता है। रंग किसमें प्रतिष्ठित हैं? उसने कहा' हृदय ¶ में, क्योंकि हृदय से रंगों को जानता है। हृदय में ही सारे रंग प्रतिष्ठित होते हैं§।(शाकल्यने कहा)निःसंदेह यह ऐसेही है हे याज्ञवल्क्य

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसि' इति।'यमदेवतः' इति! 'स यमः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति। 'यज्ञे' इति। 'कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठितः' इति? 'दक्षिणायाम्'इति। कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठिता' इति? 'श्रद्धायाम्'इति।

---

* यहां 'किं' शब्द ब्रह्म का विशेषण लिया जाए, तो प्रश्न शबल ब्रह्म के विषय में होसक्ता है और शबल ब्रह्म का ज्ञान ही आगे याज्ञवल्क्य ने स्वीकार किया है॥

† इन पांच कण्डिकाओं में बाह्य सृष्टि का हृदय से यथार्थ सम्बन्ध बोधन किया है। सूर्य आंख को प्रकाश देता है,और आंख रूपों को दिखलाती है, और वे रूप जब आंख द्वारा हृदय में प्रवेश करते हैं, तब आत्मा उस दृश्य को देखता है। ‡ अक्षरार्थ पूर्व दिशा में तू किस देवता वाला है और इसी प्रकार "आदित्यदेवतः" सूर्य देवता वाला। अक्षरार्थ "यमदेवतः" इत्यादि में भी ऐसी ही है॥ § मन और बुद्धि इन दोनों को इकट्ठा कहने के लिये 'हृदय' यह एक शब्द है(शंकराचार्य)¶वासनारूप रंग हृदय में रहते हैं(शंकराचार्य)

यदा ह्येव श्रद्धत्ते, अथ दक्षिणां ददाति, श्रद्धायाᳪ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठिता' इति । कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठिता' इति ? 'हृदये' इति होवाच । हृदयेन हि श्रद्धां जानाति, हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवति' इति । 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ २१ ॥

(शाकल्य ने कहा) 'दक्षिण दिशा में तेरा देवता कौन है' ? 'यम' । 'यम किसमें प्रतिष्ठित है' ? 'यज्ञ में' । 'यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है' ? 'दक्षिणा में' । 'दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है' 'श्रद्धा में' क्योंकि जब मनुष्य श्रद्धा रखता है, तभी दक्षिणा देता है, सो दक्षिणा निःसंदेह श्रद्धा में प्रतिष्ठित है । 'श्रद्धा किस में प्रतिष्ठित है' ? उसने कहा 'हृदय में' क्योंकि हृदय से ही श्रद्धा को जानता है, और इसलिये श्रद्धा हृदय में ही प्रतिष्ठित है । (शाकल्य ने कहा) 'निःसन्देह यह ऐसे ही है हे याज्ञवल्क्य ! * ॥ २१ ॥

'किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसि' इति । 'वरुणदेवतः' इति । 'स वरुणः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति ? 'अप्सु' इति । 'कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिताः' इति ? 'रेतसि' इति । 'कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितम्' इति ? 'हृदये' इति ।

* धर्म्म कर्म के अनुष्ठान का बीज श्रद्धा है, और वह श्रद्धा हृदय में रहती है । जो यज्ञ ऋत्विजों से किया गया है, यजमान उनको दक्षिणा देकर उस यज्ञ को अपना बना लेता है, और तब वह उस यज्ञ से दक्षिणगति को जीतता है । वह दक्षिणा जिसके द्वारा यजमान ऋत्विजों से यज्ञ को मोल ले लेता है वह उसी धार्मिक श्रद्धा का फल है ॥

तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुः—'हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मितः' इति। हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवति' इति। 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ २२ ॥

(शाकल्य ने कहा) इस पश्चिम दिशा में तेरा देवता कौन है? 'वरुण' 'वरुण किस में प्रतिष्ठित है'? 'जलों में'। 'जल किस में प्रतिष्ठित हैं'? 'बीज में' 'बीज किस में प्रतिष्ठित है'? 'हृदय में' 'इसलिये जो पुत्र पिता के सदृश उत्पन्न हुआ है उसके विषय में लोग कहते हैं, 'मानों यह हृदय से निकला है या हृदय से बनाया गया है'। क्योंकि हृदय में ही बीज प्रतिष्ठित होता है'। (काशल्य ने कहा) ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

'किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसि' इति? 'सोमदेवतः' इति। 'स सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति? 'दीक्षायाम्' इति। 'कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठिता' इति? 'सत्ये' इति। तस्मादपि दीक्षितमाहुः—'सत्यं वद' इति। सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता' इति। 'कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितम्' इति? 'हृदये' इति होवाच। हृदयेन हि सत्यं जानाति, हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवति' इति। 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ २३ ॥

(शाकल्य ने कहा) 'उत्तर दिशा में तेरा देवता कौन है'? 'सोम'। 'वह सोम किस में प्रतिष्ठित है'? 'दीक्षा * में'। 'दीक्षा

---

* दीक्षा, किसी वैदिक कर्म में अधिकार लाभ करना। सोम यज्ञ में इस प्रयोजन के लिये यज्ञ के आरम्भ में एक छोटी सी इष्टि

किस में प्रतिष्ठित है' ? 'सचाई में'। इसी लिये जिसने दीक्षा ली हो, उस को कहते हैं 'सच कहो' क्योंकि सचाई में ही दीक्षा प्रतिष्ठित है। 'सचाई किसमें प्रतिष्ठित है' ? उसने कहा 'हृदय में' 'क्योंकि हृदय से ही सचाई को जानता है, और सचाई हृदय में ही रहती है'। 'ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य * ॥ २३ ॥

'किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसि' इति? 'अग्निदेवतः' इति। 'सोऽग्निः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति ? 'वाचि' इति। 'कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठिता' इति ? 'हृदये' इति। 'कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितम्' इति ॥ २४ ॥

'शाकल्य ने कहा' 'इस ध्रुव दिशा में तेरा देवता कौन है' ? 'अग्नि'। 'वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है' ? 'वाणी में' 'और वाणी किसमें प्रतिष्ठित है'? 'हृदय में'। 'और हृदय किसमें प्रतिष्ठित है'?२४

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यः 'यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै, यद्ध्येतदन्यत्रास्मत् स्यात्, श्वानो वैनदद्युर्वयाꣳसि वैनद् विमथ्नीरन् ॥ २५ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा 'हे अहल्लिक †। जो तू इस (हृदय) को हम से (=शरीर से) किसी दूसरी जगह ख्याल करता है। यदि यह (हृदय) हम से (= शरीर से) दूसरी जगह होता, तो इसको

की जाती है, जिसका नाम दक्षिणीयेष्टि है, उस इष्टि से यजमान दीक्षित (दीक्षा वाला) बनता है ॥

* दीक्षा के बिना सोमयज्ञ नहीं होता, और सचाई के बिना दीक्षा सफल नहीं होती। और सचाई का साक्षी हृदय होता है ॥

† अहल्लिक यह एक प्रकार की झिड़क है। अप्रयुक्त शब्द होने से अर्थ का निश्चय होना कठिन है स्वामि शंकराचार्य लिखते हैं, 'अहनि लीयते' जो दिन को छिप जाता है अर्थात् प्रेत ॥

शरीर को) कुत्ते खा जाते वा पंछी फाड़ खाते (इस लिये हृदय शरीर में ही प्रतिष्ठित है अन्यत्र नहीं) ॥ २५ ॥

'कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थः' इति ? 'प्राणे' इति । 'कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठितः' इति ? 'अपाने' इति । 'कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठितः' इति? 'व्याने' इति । 'कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठितः' इति ? 'उदाने' इति । 'कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठितः' इति । 'समाने' इति । स एष नेतिनेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते, अशीर्यो नहि शीर्यते, असंगो नहि सज्यते, असितो न व्यथते, नारिष्यति, एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः, स यस्तान् पुरुषान् निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्, तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति' इति । तं᳟ ह न मेने शाकल्यः,तस्य ह मूर्धा विपपात, अपि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥ २६ ॥

(शाकल्य ने कहा) और किस में तू (=शरीर) और आत्मा (हृदय) प्रतिष्ठित हो ? 'प्राण में*' । 'और प्राण किस में प्रति-

---

* पूर्व हृदय की प्रतिष्ठा शरीर में बतलाई है, अब यहां हृदय और शरीर दोनों की स्थिति प्राण के सहारे बतलाई है ॥

ष्ठित है'? 'अपान में *' 'अपान किस में प्रतिष्ठित है'? 'व्यान में †' 'व्यान किस में प्रतिष्ठित है?' 'उदान में‡'। उदान किस में प्रतिष्ठित है? समान § में वह आत्मा नेति¶ नेति (से वर्णन किया गया है) वह ग्रहण करने योग्य नहीं (उन वस्तुओं की नांई नहीं जो हाथ से पकड़ी जाती हैं) क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता, वह नष्ट होने योग्य नहीं, क्योंकि वह नष्ट नहीं किया जाता वह असंग है क्योंकि वह जोड़ा नहीं जाता; वह बन्धनरहित है, न थकता है, न गिरता है। ये आठ (पृथिवी आदि), शरीर हैं आठ लोक हैं (अग्नि आदि), आठ देवता हैं (अमृत आदि), आठ पुरुष हैं। वह जो अलग २ करके और इकट्ठा करके ||इन पुरुषों को उलांघे हुए है, उस औपनिषद (उपनिषद् से ही जानने योग्य) पुरुष को मैं तुझ से पूछता हूं, यदि तू उसका स्वरूप न कहेगा; तो तेरा सिर गिर जाएगा। शाकल्य ने उस (पुरुष) को नहीं समझा, और उसका सिर गिर गया, अपितु चोर इसकी हड्डियां भी लेगए, कुछ और ही (धन आदि) समझते हुए॥२६॥

अथ होवाच 'ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः काम-

---

* क्योंकि प्राण बाहर ही चला जाए, यदि उसको अपान वापिस न लाए। †क्योंकि अपान नीचे ही चला जाए और प्राण बाहर ही यदि वह व्यान से अपनी हद्द में न थाम लिये जाएं। ‡प्राण अपान व्यान तीनों ही इधर उधर दूर हो जाएं, यदि उदान से बांधे हुए न हों। § ये सारी वृत्तियें समान के आश्रित हैं द्विवेद्गंग और शंकराचार्य ने समान से सूत्रात्मा से अभिप्राय लिया है। ¶ देखो पूर्व २।३।६ और आगे ४।२।४; ४।४।२२, ४।५।१५। || प्रतिष्ठा, लोक, और हृदय में उनकी एकता को, निश्चय करके॥

यते, स मा पृच्छतु, सर्वे वा मा पृच्छत । यो वः कामयते, तं वः पृच्छामि, सर्वान्वा वः पृच्छामि' इति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥२७॥

तब उस ने (याज्ञवल्क्य ने) कहा 'पूजनीय ब्राह्मणो ! जो कोई तुम में से चाहता है, वह मुझ से पूछ सक्ता है; या तुम सारे ही मुझ से पूछ सक्ते हो । या तुम में से जो कोई चाहता है; उस को मैं पूछता हूं, या तुम सभी को पूछता हूं'। पर उन ब्राह्मणों ने (कोई बात कहने की) दलेरी नहीं की ॥ २७ ॥

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

'यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषो ऽमृषा । तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥ १ ॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः । तस्मात्तदातृण्णात् प्रैति रसोवृक्षादिवाहतात् ॥ २ ॥

मांसान्यस्यशकराणिकिनाटंस्नावतत्स्थिरम् । अस्थीन्यन्तरतो दारूणिमज्जामज्जोपमाकृता ॥ ३ ॥

यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरःपुनः । मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् प्ररोहति ॥ ४ ॥

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत् प्रजायते । धानारुह इव वै वृक्षो ऽञ्जसा प्रेत्य संभवः ॥ ५ ॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् । मर्त्यः

स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् प्ररोहति ॥ ६ ॥
जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत् पुनः ।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विदः" इति ॥ ७ ॥ २८ ॥

(तब याज्ञवल्क्य ने) उन को इन श्लोकों से पूछा :—

जैसे एक बडा वृक्ष होता है, ऐसे ही सचमुच पुरुष है; उसके रोम पत्ते हैं; त्वचा इसकी बाहिर का छिल्का है ॥ १ ॥ इस की त्वचा से लहू वह निकलता है, जैसे (वृक्ष की) छाल से रस; इसी लिये ज़ख्मी हुए (मनुष्य) से वह (लहू) निकलता है जैसे चोट दिये हुए * वृक्ष से रस ॥२॥

इस मनुष्य के जो मांस है वह (वृक्ष के अन्दर) नर्म छिलके हैं; और (वृक्षके) रेशे (मनुष्य की) नस की नाईं दृढ हैं। हड्डियें अन्दर की लकड़ियें हैं; और (हड्डियों के अन्दर की) चर्बी (लकड़ी के अन्दर के) गूदे के सदृश बनाई गई है ॥ ३ ॥ पर जब वृक्ष कट जाता है; तो वह अपनी जड से अच्छा नया बन कर फूट आता है, (अब बताओ कि जब) मृत्यु इस मनुष्य को काट डालता है; तब यह किस जड़ से उगता है ? ॥ ४ ॥

'बीज से यह नहीं कह सक्ते; क्योंकि बीज जीते (मनुष्य) से उत्पन्न होता है† पर वृक्ष मरने के पीछे दाने से उगता है

---

* माध्यन्दिन पाठ 'तस्मात्तदातुन्नात्' है ।

† माध्यन्दिन में इसका उत्तरार्ध यह है, 'जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः' जो यहां २८ का पूर्वार्ध है ।

*यह स्पष्ट † है‡ ॥५॥ अगर किसी वृक्ष को जड़ समेत उखाड़ दें, तो वह फिर नहीं होगा, (तब यह बताओ कि जब) मृत्यु इस मनुष्य को काट डालती है, तो वह किस बच रही जड़ से उगता है ॥ ६ ॥ उत्पन्न हुआ २ ही है (फिर) उत्पन्न नहीं होता क्योंकि कौन इस को फिर उत्पन्न करे ?

§ब्रह्म जो विज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप हैं, वह दान देने वाले की परमगति है और (एषणाओं से उठकर) दृढ़ खड़े हुए, उसके (ब्रह्म के) जानने वाले पुरुष की परमगति है ॥७।२८॥

---

* चौथा अध्याय—पहला ब्राह्मण *

संगति—तीसरे अध्याय में वाद विवाद द्वारा ब्रह्म का स्वरूप और उपासना आदि दिखलाए हैं, अब इस चौथे अध्याय में गुरु शिष्य के संवाद द्वारा ब्रह्म विद्या विषयक सूक्ष्म विषयों का निर्णय करेंगे :—

---

* 'माध्यन्दिन में' 'धानारुह इव वै' की जगह 'धानारुहउ वै' पाठ है। इस पाठमें अर्थ अधिक स्पष्ट है, क्योंकि काण्व पाठ में भी 'इव' को अनर्थक ही माना है—'इवशब्दोऽनर्थकः'। (शंकराचार्य) †माध्यन्दिनमें 'अञ्जसा' की जगह अन्यत. है। ‡अभिप्राय यह है, कि बीज से फिर उत्पन्न होता है यह नहीं कह सकें, क्योंकि बीज तभी तक है, जब तक मनुष्य जीवित है। पर वृक्ष में यह बात नहीं, वृक्ष के नाश में भी उसका बीज बना रहता है। प्रेत्यसंभवः=मर कर फिर उत्पन्न होना, इसी अर्थ में प्रेत्यभाव शब्द प्रयुक्त है ॥

§जब ब्राह्मण चुप होगए तो यह याज्ञवल्क्य ने अथवा उपनिषद् ने स्वयं उत्तर दिया है। अर्थात् ब्रह्म ही कर्म करने वाले को मरने के पीछे उसका फल देता है और ब्रह्म ही ज्ञानवान् को बन्धन से छुड़ाता है ॥

जनको ह वैदेह आसांचक्रे, अथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज । तं होवाच ' याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तान् ' इति । उभयमेव सम्राड् ' इति होवाच ॥ १ ॥

जनक वैदेह मिलने वालों के लिये बैठा था तब याज्ञवल्क्य आया । उसको उसने कहा ' हे याज्ञवल्क्य किस लिये आए हो, क्या पशुओं को चाहते हुए वा सूक्ष्म प्रश्नों को (सुनना चाहते हुए) उसने कहा दोनों ही हे सम्राट् *' ॥ १ ॥

'यत्ते कश्चिदब्रवीत्, तच्छृणवाम' इति । 'अब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिः 'वाग्वै ब्रह्म' । इति । ' यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तच्छैलिनिरब्रवीद् 'वाग्वै ब्रह्म' इति । अवदतोहि किᳫ स्यादिति । अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम्''न मेऽब्रवीद' इति । ' एकपाद्वा एतत् सम्राड्' इति । 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य' । 'वागेवायतन माकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत' का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य ' ' वागेव सम्राड् ' इति होवाच ' वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायते, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः

*सम्राट्=जिस ने वाजपेय यज्ञ किया है वा राजाधिराज ॥

सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳहुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते। वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म। नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो-भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते। 'हस्त्यृषभꣳसहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः 'पिता मे ऽमन्यत नाननुशिष्य हरेत' इति॥ २॥

'जो कुछ तुझे किसी ने बतलाया है, वह सुनाओ' (जनक ने उत्तर दिया) 'मुझे जित्वा शैलिनि (शिलिन के पुत्र) ने बतलाया है कि 'वाणी ब्रह्म है' *। (याज्ञवल्क्य ने कहा) जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्यवाला (जिसने तीनों से शिक्षा पाई है) बता सके, वैसे तुझे जित्वा शैलिनि ने कहा है कि 'वाणी ब्रह्म है' क्योंकि न बोलते हुए (गूंगे) को क्या लाभ है? पर उस ने तुझे उस (ब्रह्म) का शरीर (आयतन) और आश्रय (प्रतिष्ठा) बतलाया है (जनक ने कहा) 'उसने मुझे नहीं बतलाया' (याज्ञवल्क्य ने कहा) हे सम्राट् तो यह

---

* इन आचार्य्यों ने याज्ञवल्क्य को जो उपासना बतलाई हैं, वे शबल ब्रह्म की उपासना हैं, अर्थात् यहां ब्रह्मकी उस शक्ति का उपदेश है जिसको वाणी प्रकाशित करती है इत्यादि। इसी लिये आगे कहा है कि वाणी जिसका शरीर है इत्यादि।

(ब्रह्म) केवल एक पादवाला * है? जनक ने कहा 'तब हमें बतलाइये हे याज्ञवल्क्य' (याज्ञवल्क्य ने कहा) वाणी ही उसका शरीर है, आकाश आश्रय है, और यह (ब्रह्म) प्रज्ञा है ऐसा चिन्तन करता हुआ इस को उपासे। (जनक ने कहा) (वाणी में) प्रज्ञापन क्या है हे याज्ञवल्क्य। उसने कहा 'वाणी ही है हे सम्राट्' वाणी से हे सम्राट् बन्धु जाना जाता है, ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्याएं उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यजन किया हुआ और होम किया हुआ खिलाया हुआ पिलाया हुआ यह लोक और दूसरा लोक और सारे जीव वाणी से जाने जाते हैं। वाणी हे सम्राट् परब्रह्म है। जो इस (रहस्य) को ऐसे जानता हुआ इसको उपासता है, उस को वाणी नहीं त्यागती, सारे जीव उसकी ओर झुकते हैं (उस को प्राप्त होते हैं और लाभ पहुंचाते हैं) वह देवता बनकर देवताओं के पास जाता है'। जनक ने कहा मैं तुझे (इस उपदेश के बदले में) हजार गौएं और एक हाथी जैसा बैल देता हूं'। उसने कहा 'मेरे पिता की सम्मति थी कि पूरा शासन किये बिना (शिष्य से) कुछ नहीं लेना चाहिये'॥ २॥

'यदेव ते कश्चिदब्रवीत्, तच्छृणवाम' इति।

---

* अभिप्राय यह है कि चतुष्पाद (चार पाओं वाले) ब्रह्मका यह एकपाद ज्ञान है, जैसे कोई भी चतुष्पाद एक पाओं से चल नहीं सक्ता, इसी प्रकार यह ज्ञान अधूरा है जब तक इस के साथ तीन पाद का ज्ञान न हो। और वे तीनपाद आयतन प्रतिष्ठा और उपासना का प्रकार (प्रज्ञा इत्यादि) हैं॥

'अब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः 'प्राणो वै ब्रह्म' इति। 'यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तच्छौल्बायनो ऽब्रवीत् 'प्राणो वै ब्रह्मेति'। अप्राणतो हि किं ऽस्यादि' इति। अब्रवीत् तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां'' 'न मे ऽब्रवीद्' इति। 'एकपाद्वा एतत्सम्राड्' इति। 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य'? प्राणएवायतन माकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत'। 'का प्रियता याज्ञवल्क्य'? 'प्राण एव सम्राड्' इति होवाच, प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यंयाजयति, अप्रति गृह्यस्य प्रतिगृह्णाति, अपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति, प्राणस्यैव सम्राट् कामाय। प्राणोवै सम्राट् परमंब्रह्म। नैनं प्राणो जहाति, सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते। हस्त्यृषभ ऽसहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः। सहोवाच याज्ञवल्क्यः 'पिता मे ऽमन्यत नाननुशिष्य हरेत' इति॥ ३॥

'जो कुछ तुझे किसी ने बतलाया है। वह मुझे सुनाओ' उदङ्क शौल्बायन (शुल्ब के पुत्र) ने मुझे बताया है, कि प्राण ब्रह्म है'। 'जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य्यवाला (विद्वान्) बता सके, वैसे तुझे शौल्बायन ने बताया है, कि 'प्राण ब्रह्म है' क्योंकि बिना प्राण के पुरुष को क्या फल है? पर तुझे उस (ब्रह्म) का

शरीर और आश्रय बताया है' ? 'मुझे नहीं बताया'। 'तो यह (ब्रह्म) एक-पाओं वाला है हे सम्राट्'। 'तब मुझे बताओ हे याज्ञवल्क्य'? 'प्राण ही शरीर है, आकाश आश्रय है, और प्यारा है इस ख्याल से इसकी उपासना करनी चाहिये' ? '(इसमें) क्या प्यारापन है, हे याज्ञवल्क्य' ? 'प्राण स्वयं (जीवन अपने आप प्यारा है) हे सम्राट्, क्योंकि प्राण(जीवन) की कामना के लिये हे सम्राट् उसको मनुष्य यज्ञ कराता है, जिसको यज्ञ नहीं कराना चाहिये, और उससे दान लेता है, जिससे दान नहीं लेना चाहिये, और वह जिस दिशा में जाता है, वहां मौत से डरता है, प्राण के निमित्त ही हे सम्राट् *। प्राण हे सम्राट् परब्रह्म है। जो इस(रहस्य) को जानता हुआ इसकी उपासना करता है, इसको प्राण नहीं त्यागता, सारे जीवधारी इस की ओर झुकते हैं, और वह देवता बनकर देवताओं को प्राप्त होता है'। जनक वैदेह ने कहा 'हज़ार गौएं और एक हाथी जैसा बैल देता हूं' याज्ञवल्क्य ने कहा ' मेरे पिता की यह सम्मति थी, 'बिना पूरा शासन किये (शिष्य से) कुछ नहीं लेना चाहिये'॥ ३॥

'यदेव ते कश्चिदब्रवीत्, तच्छृणवाम' इति। 'अब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णः 'चक्षुर्वै ब्रह्म' इति। 'यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीत् 'चक्षुर्वै ब्रह्म' इति। अपश्यतो हि किꣳस्यादिति, अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां' ? 'नमेऽब्रवीद्' इति। 'एकपाद्वा एतत्सम्राड्' इति। 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य' ? चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत'। का सत्यता

---

* प्राण को प्यारा होने से ही जहां कहीं डर व्यापता है।

याज्ञवल्क्य' ? 'चक्षुरेव सम्राड्' इतिहोवाच । 'चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति, स आहाद्राक्षमिति, तत्सत्यं भवति । चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म ! नैनं चक्षुर्जहाति, सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वादेवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते' । 'हस्त्यृषभꣳसहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः । सहोवाच 'पिता मेऽमन्यत, नाननुशिष्य हरेत' इति ॥ ४ ॥

जो कुछ किसी ने तुझे कहा है, वही मुझे सुनाओ' ? । 'वर्कु वार्ष्ण (वृष्ण के सन्तान) ने मुझे कहा है 'आंख ब्रह्म है'? जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य्य वाला कहे, वैसे वह वार्ष्ण ने कहा है कि आंख ब्रह्म है; क्योंकि न देखते हुए का क्या हो? पर उसने तुझे उसका शरीर और आश्रय कहा है' । 'उसने मुझे नहीं कहा है' 'तो हे सम्राट् यह एक पाओं वाला (ब्रह्म) है' 'तब हमें कहो हे याज्ञवल्क्य' ? 'आंख ही उसका शरीर है, आकाश आश्रय है, यह सत्य है इस प्रकार इसकी उपासना करनी चाहिये' 'क्या (इस में) सत्यता है हे याज्ञवल्क्य' उसने कहा-आंख ही हे सम्राट् सत्य (वह जो सचाई है) है । आंख से देखने वाले को हे सम्राट् कहते हैं—क्या तूने देखा है ? वह कहता है, हां मैंने देखा है, तब यह सत्य होता है, आंख हे सम्राट् परब्रह्म है । जो इसको ऐसे जानता हुआ उपासता है, इसको आंख नहीं त्यागती, सारे जीवधारी इसकी ओर झुकते हैं, और वह देवता बनकर देवताओं के पास जाता है' । जनक वैदेह ने कहा 'मैं (इसके लिये) हज़ार गौएं और एक हाथी जितना बैल देता हूं' । याज्ञवल्क्य ने कहा मेरे पिता की सम्मति थी 'पूरा शासन किये विना (शिष्य से) नहीं लेना चाहिये' ॥४॥

'यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवाम' इति। अब्रवीन्मे गर्द-भीविपीतो भारद्वाजः 'श्रोत्रं वै ब्रह्म' इति। 'यथा मातृ-मान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तद्भारद्वाजोऽब्र-वीत्, 'श्रोत्रं वै ब्रह्म' इति। अशृण्वतो हि किंऽस्यादिति। अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम्'। 'न मेऽब्रवीद्' इति। 'एकपाद्वा एतत्सम्राड्' इति। 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य'। श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत'। काऽनन्तता याज्ञवल्क्य'? 'दिश एव सम्राड्' इति हो-वाच 'तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति, नैवा-स्या अन्तं गच्छति, अनन्ता हि दिशः, दिशो वै सम्राट् श्रोत्रं, श्रोत्रं वै सम्राट परमं ब्रह्म। नैनं श्रोत्रं जहाति, स-र्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते'। 'हस्त्यृषभꣳसहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः। सहोवाच याज्ञवल्क्यः 'पिता मेऽमन्यत, नाननुशिष्य हरेत' इति ॥ ५ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा) 'जो कुछ तुझे किसी ने कहा है, वह मुझे सुनाओ'। 'मुझे गर्दभीविपीत भारद्वाज (गोत्री) ने कहा है 'श्रोत्र ब्रह्म है'। 'जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य से शिक्षा पाया हुआ कहे; वैसे वह भारद्वाज ने कहा है, 'श्रोत्र ब्रह्म है' क्योंकि न सुनते हुए का क्या है?' पर तुझे उसका शरीर और आश्रय भी बताया है'? 'मुझे उसने नहीं बताया है'। 'तो हे सम्राट् यह एक पाओं वाला (ब्रह्म) है'। वह हमें बताओ हे याज्ञवल्क्य'।

'श्रोत्र ही शरीर है; आकाश आश्रय है; यह अनन्त है ऐसा चिन्तन करके उसकी उपासना करनी चाहिये'। '(इसमें) क्या है अनन्तता हे याज्ञवल्क्य'। उसने कहा 'दिशाएं (अपने आप अनन्त हैं) हे सम्राट्'। इसलिये हे सम्राट् जिस किसी दिशा में जाता है, उसके अन्त को नहीं पाता, क्योंकि दिशाएं अनन्त हैं, और दिशाएं हे सम्राट् श्रोत्र हैं, और श्रोत्र हे सम्राट् परब्रह्म है। जो इसको ऐसा जानकर उपासता है, इसको श्रोत्र नहीं त्यागता; सारे जीवधारी इसकी ओर झुकते हैं, और वह देवता बनकर देवताओं के पास पहुंचता है'। जनक वैदेह ने कहा 'मैं (इसके लिये) हज़ार गौएं और एक हाथी जितना बैल देता हूं' याज्ञवल्क्य ने कहा 'मेरे पिता की सम्मति थी बिना पूरा शासन किये (शिष्य से) कुछ नहीं लेना चाहिये'॥५॥

'यदेव ते कश्चिदब्रवीत्, तच्छृणवाम' इति। अब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालः 'मनो वै ब्रह्म' इति। 'यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तज्जाबालोऽब्रवीद्, 'मनो वै ब्रह्म' इति। अमनसो हि किꣳस्यादिति। अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम्' 'न मेऽब्रवीद्' इति। 'एकपाद्वा एतत्सम्राड्' इति। 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य' 'मन एवायतन माकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत'। 'काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य'। 'मन एव सम्राड्' इति होवाच। मनसा वै समाट् स्त्रियमभिहार्यते, तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते, स आनन्दः। मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म। नैनं मनो जहाति, सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते'

'हस्त्यृषभꣳसहस्रं ददामि इतिहोवाच जनको वैदेहः । सहोवाच याज्ञवल्क्यः 'पिता मेऽमन्यत, नाननुशिष्य हरेत' इति ॥ ६ ॥

जो कुछ तुझे किसी ने कहा है, 'वह मुझे सुनाओ' ? 'मुझे सत्यकाम जाबाल (जबाला के पुत्र) ने कहा है 'मन ब्रह्म है' । 'जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य से शिक्षा पाया हुआ पुरुष कहे, वैसे जाबाल ने वह कहा है कि 'मन ब्रह्म है' क्योंकि जो बिना मन के है,उसका क्या है । पर तुझे इसका शरीर और आश्रय बताया है, । 'मुझे नहीं बताया' । 'तो यह एक पाओं वाला (ब्रह्म) है हे सम्राट्' । 'तब वह हमें बताओ हे याज्ञवल्क्य' । मनही(उसका) शरीर है, आकाश आश्रय है और यह आनन्द है ऐसा चिन्तन करते हुए इसकी उपासना करनी चाहिये' । 'क्या है (इसमें) आनन्दता हे याज्ञवल्क्य' । उसने कहा 'मन ही (स्वयं आनन्द) है हे सम्राट् । मन से हे सम्राट् स्त्री की कामना करता है । उससे उसके सदृश पुत्र उत्पन्न होता है, वह आनन्द है । मन हे सम्राट् पर ब्रह्म है । जो इसको ऐसा जानकर उपासता है,इसको मन नहीं त्यागता, सारे जीवधारी इसकी ओर झुकते हैं और वह देवता बनकर देवताओं के पास पहुंचता है' । जनक वैदेह ने कहा 'मैं (इसके लिये) हज़ार गौएं और हाथी जितना एक बैल देता हूं । याज्ञवल्क्य ने कहा ' मेरे पिता की सम्मति थी कि पूरा शासन किये बिना (शिष्य से) कुछ नहीं लेना चाहिये' ॥६॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्, तच्छृणवाम' इति । अब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यः—'हृदयं वै ब्रह्म' इति । 'यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्,' तथा तच्छाकल्योऽ

ब्रवीद्' 'हृदयं वै ब्रह्म' इति। अहृदयस्य हि किंस्या-दिति। अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम्' 'नमेऽब्र-वीद्' इति। 'एकपाद्वा एतत् सम्राड्' इति। 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य' 'हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत'। 'का स्थितता याज्ञवल्क्य' 'हृदयमेव सम्राड्' इति होवाच। 'हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा, हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति। हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म। नैनं हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते। 'हस्त्यृषभं सहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः। सहोवाच याज्ञवल्क्यः 'पिता मेऽमन्यत, नाननुशिष्य हरेत' इति ॥ ७ ॥

जो कुछ तुझे किसी ने कहा है, वह मुझे सुनाओ' ! मुझे विदग्ध शाकल्य (शकल के सन्तान) ने कहा है 'हृदय ब्रह्म है'। 'जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य से शिक्षा पाया हुआ पुरुष कहे, वैसे यह शाकल्य ने कहा है कि—'हृदय ब्रह्म है' । बिना हृदय के पुरुष का क्या हो ? पर उसने तुझे उसका शरीर और आश्रय बताया है' ? 'मुझे नहीं बताया' तो हे सम्राट् यह एक पाओं वाला (ब्रह्म) है' । तब हे याज्ञवल्क्य हमें बताओ' ? 'हृदय ही शरीर है, आकाश आश्रय है और यह स्थिति (स्थिर रहने वाला) है ऐसे चिन्तन करता हुआ हुआ इसकी उपासना करे' 'क्या (इसमें)

स्थितता (स्थिर रहनापन) है हे याज्ञल्क्य' । उसने कहा स्वयं हृदय ही (स्थिति) है हे सम्राट्, हृदय हे सम्राट् सब भूतों (वस्तुओं) का आश्रय है, क्योंकि हृदय में हे सम्राट् सब भूत आश्रित होते हैं । हृदय हे सम्राट् परब्रह्म है । जो इसको ऐसा जानता हुआ उपासता है, हृदय इसको नहीं त्यागता, सारे जीवधारी इसकी ओर झुकते हैं, और वह देवता बनकर देवताओं के पास पहुंचता है' । जनक वैदेह ने कहा, 'मैं (इसके लिये) हज़ार गौएं और एक हाथी जितना बैल देता हूं' । याज्ञवल्क्य ने कहा 'मेरे पिता की सम्मति थी कि बिना पूरा शासन किये (शिष्य से कुछ) न लेना चाहिये' ॥ ७ ॥

* दूसरा ब्राह्मण *

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच 'नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधि' इति । सहोवाच 'यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीत, एवमेवैताभि रुपनिषद्भिः समाहितात्मास्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्कः, इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसि' इति । 'नाहं तद् भगवन् वेद, यत्र गमिष्यामि' इति । 'अथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि, यत्र गमिष्यसि' इति । 'ब्रवीतु भगवान्' इति ॥ १ ॥

अब जनक वैदेह तख्त से (उतर कर शिष्य के तौर पर याज्ञवल्क्य के) पास बैठा और कहने लगा 'तुझे नमस्कार हो, हे याज्ञवल्क्य , मुझे शिक्षा दो' । उसने कहा 'हे सम्राट् जैसे कोई पुरुष लम्बा रस्ता जाना चाहता हुआ रथ को या नौका

को लेवे, इसी प्रकार तेरा मन इन उपनिषदों*से युक्त है और इस प्रकार तू पूजा के योग्य है, धनवान् है, वेदों को पढ़ा है; और उपनिषदें तुझे बतलाई गई हैं, तब तू यहां से (इस देह से) अलग होकर (इन उपनिषद् रूपी रथों वा नौकाओं से) कहां जाएगा'? 'हे भगवन् मैं नहीं जानता, जहां जाऊंगा'। 'तब मैं तुझे बताऊंगा, तू जहां जाएगा'। 'भगवान् बताएं'॥ १॥

इन्धो ह वै नामैषः, योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तं वा एतमिन्धꣳसन्तमिन्द्रइत्याचक्षते परोक्षेणैव। परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः॥ २॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा) यह जो दाईं आंख में पुरुष† है यह इन्ध (=चमकने वाला) नाम है, और वह जो इन्ध है, इसी को परोक्ष करके ‡ (छिपाकर) इन्द्र कहते हैं, क्योंकि देवता परोक्ष के प्यारे है और प्रत्यक्ष के द्वेषी हैं §॥ २॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपम्, एषाऽस्य पत्नी विराट्। तयो रेष सꣳस्तावः, य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः, अथैनयो रेतदन्नं, य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डः। अथैन-

---

* उपनिषदों से तात्पर्य वे रहस्य हैं, जो पहले ब्राह्मण में दूसरे आचार्यों ने जनक को उपदेश किये हैं। जो ब्रह्म की शबल (सविशेष) उपासनाएं हैं, यह जानते हुए कि वह, प्रिय है, सत्य है, अनन्त है, आनन्द है और स्थिति है॥ † जाग्रत अवस्था का वर्णन है, इस अवस्था में आत्मा का स्थान दाईं आंख कहते हैं और नाम वैश्वानर ‡ माध्यन्दिन पाठ 'परोक्षेणेव' है, पर टीकाकार ने इव को एव के अर्थ में ही माना है। और देखो ऐत० उप० १। ३। १४॥ § प्रत्यक्ष नाम लेने को पसन्द नहीं करते हैं, इस लिये लोग इस देवता को साफ़ २ 'इन्ध' न कह कर 'इन्द्र' कहते हैं॥

यो रेतत्प्रावरणं, यदेतदन्तर्हृदये जालकमिव, अथैनयो रेषा सृतिः संचरणी, यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति। यथा केशः सहस्रधा भिन्नः,एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति, एताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति । तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥ ३ ॥

अब यह जो बाईं आंख में पुरुष का रूप है, यह इस की पत्नी है विराट्। उनके मिलने की जगह * यह है,जो यह हृदय के अन्दर आकाश है, और इनका यह अन्न है,जो यह हृदय के अन्दर लाल पिण्ड (गोला) है। और इसका यह ओढ़ना † है, जो यह हृदय के अन्दर जाली सी है। और यह (उनके स्वप्न से जाग्रत की ओर) चलने का रास्ता है, जो यह हृदय से ऊपर की ओर नाड़ी जाती है। जैसे एक बाल(मोटाई में से)हज़ार टुकड़े किया जाए,ऐसी(सूक्ष्म) इसकी हिता ‡ नाम नाड़ियें हृदय में स्थित हैं। इनके द्वारा यह (=रस) बहता हुआ (सारे शरीर में) बहता है,इसलिये यह (तैजस) इस शरीर आत्मा से अधिक शुद्ध आहार वाला होता है § ॥३॥

---

* संस्ताव, यज्ञ में वह स्थान जहां इकट्ठे बैठकर स्तुति करते हैं ॥ † प्रावरण, ओढ़ना, अथवा छिपने की जगह ॥ ‡ हिता, यह नाम इन नाड़ियों के लिये बहुधा प्रयुक्त हुआ है—देखो बृ० उप० ४।३।२०; कठ० उप० ६।१६; कौषी० उप० ४।२०; छान्दो० उ० ६।५।३॥ § खाए हुए अन्न का अपवित्र और स्थूल अंश मलमूत्र और पसीने द्वारा बाहर फैंक दिया जाता है और शुद्ध और सूक्ष्म सार इस स्थूल शरीर का आहार बनता है उसका भी सार सूक्ष्म शरीर का आहार बनता है। इस लिये लिङ्ग शरीर स्थूल शरीर से अधिक शुद्ध आहार वाला है ॥

तस्य प्राचीदिक् प्राञ्चः प्राणाः; दक्षिणा दिग् दक्षिणे प्राणाः; प्रतीचीदिक् प्रत्यञ्चः प्राणाः; उदीची दिगुदञ्चः प्राणाः; ऊर्ध्वादिगूर्ध्वाः प्राणाः; अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः; सर्वाः दिशः सर्वे प्राणाः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते; अशीर्यो नहि शीर्यते; असंगो नहि सज्यते, असितो न व्यथते न रिष्यति। अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' इतिहोवाच याज्ञवल्क्यः। सहोवाच जनको वैदेहः 'अभयं त्वा गच्छाद, याज्ञवल्क्य, यो नो भगवन्नभयं वेदयसे। नमस्तेऽस्तु, इमे विदेहा अयमहमस्मि' ॥ ४ ॥

* पूर्व दिशा उस (तैजस) के पूर्व को जाने वाले वाले प्राण हैं; दक्षिण दिशा (उसके) दक्षिण को जाने वाले प्राण हैं; पश्चिम दिशा (उसके) पश्चिम को जाने वाले प्राण हैं; उत्तर दिशा (उसके) उत्तर को जाने वाले प्राण हैं; ऊपर की दिशा (उसके) ऊपर के प्राण हैं; निचली दिशा (उसके) निचले प्राण हैं; सारी दिशाएं (उसके) सारे प्राण हैं॥† सो यह नेति नेति (से वर्णन किया हुआ) आत्मा अग्राह्य है क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अटूट्य है, क्योंकि वह तोड़ा नहीं जाता; वह असंग है, क्योंकि जोड़ा नहीं जाता; वह बन्धन रहित है, न थकता है, न नष्ट होता है। हे जनक तू अभय को प्राप्त हुआ है—यह याज्ञवल्क्य ने कहा॥ जनक वैदेह ने कहा

*यहां सुषुप्ति अवस्था का वर्णन है। †यहां आत्मा की तुरीय अवस्था का वर्णन है। इस तरह पर जनक को बतलाया है कि इन उपनिषदों के द्वारा तू स्थूलसे सूक्ष्मको पहुंचताहुआ तुरीय अभयपदको प्राप्त होगा

'तुझे अभय प्राप्त हो, हे याज्ञवल्क्य ! जो तू हे भगवन् ! हमें अभय (पद) सिखलाता है। यह विदेह (देश) हैं और यह मैं हूं (तेरा दास)

तीसरा ब्राह्मण ॥

संगति—इससे पूर्व जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय ये चारों अवस्थाएं संक्षेपतः दिखलाई हैं। अब इस तीसरे ब्राह्मण में एक और सम्वाद द्वारा उसी का सविस्तर वर्णन करते हैं:—

जनकꣳह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम,समेने न विदिष्ये इति। अथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते,तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ,स ह कामप्रश्नमेव वव्रे। तꣳहास्मै ददौ, तꣳह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ॥१॥ 'याज्ञवल्क्य ! किं ज्योतिरयं पुरुषः' इति। 'आदित्यज्योतिः सम्राड्' इति होवाच—'आदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति। 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य,जनक वैदेह के पास आया,उसका विचार जनक को उपदेश करने का न था। पर जब (पहले कभी) जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र के विषय में सम्वाद किया था, तब (प्रसन्न होकर) याज्ञवल्क्य ने उसको वर दिया था। तब उसने कामप्रश्न ही (जो मैं चाहूं पूछलूं) वर चुना था। और (याज्ञवल्क्य ने) वह (वर) उसे देदिया था। इसलिये सम्राट् ने पहले ही (आज्ञा मांगे बिना ही) उससे पूछा ॥१॥ 'हे याज्ञवल्क्य ! इस पुरुष का ज्योति कौन * है' उसने कहा 'सूर्य हे सम्राट्;

* 'किं ज्योतिः' बहुव्रीहि समास है अक्षरार्थ यह है, यह पुरुष किस ज्योति वाला है। इसी प्रकार आदित्य ज्योतिः और चन्द्र ज्योति

क्योंकि सूर्य रूप ज्योति से ही पुरुष बैठता है, इधर उधर जाता है, (वहां) काम करता है और फिर वापिस आता है। (जनक ने कहा) ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य * ॥ २ ॥

'अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किं ज्योति रेवायं पुरुषः' इति। 'चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवति' इति। 'चन्द्रमसैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति। 'एवमेवैतद्‌ याज्ञवल्क्य' ॥३॥

जब सूर्य अस्त होजाता है, हे याज्ञवल्क्य ! तब इस पुरुष की ज्योति कौन है ? चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होती है, चांद रूपी ज्योति से ही यह बैठता है, इधर उधर जाता है, (वहां) काम करता है और वापिस लौटता है'। 'ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य' ३

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किं ज्योतिरेवायं पुरुषः' इति। अग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीति। अग्निनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति। 'एवमेवैतद्‌ याज्ञवक्ल्य' ॥४॥

जब सूर्य अस्त होता है और चांद भी अस्त होता है, तो इस पुरुष की ज्योति कौन होती है' ? 'अग्नि ही इसकी ज्योति होती है'। अग्नि रूपी ज्योति से ही यह बैठता है, इधर उधर जाता है, काम करता है और लौट आता है'। 'ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य'॥५॥

आदि में भी बहुव्रीहि समास है॥ * प्रश्न का अभिप्राय यह है कि यह हाथ पाओं वाला मनुष्य देह जिस प्रकाश से अपने सारे व्यवहार साधता है, वह प्रकाश इस देह से भिन्न है वा देह ही है। याज्ञवल्क्य ने इसके उत्तर में देहसे भिन्न आत्मा की ज्योति सिद्ध करना है, इसलिये ऐसी रीती पर उत्तर देते हैं, जिससे मनुष्य को अपने (देह) से भिन्न ज्योति (सूर्य आदि) की आवश्यक्ता निःसंदेह प्रतीत होजाये॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किं ज्योतिरेवायं पुरुषः' इति। 'वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति, वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति। तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्नविनिर्ज्ञायते, अथ यत्र वागुच्चरति, उपैव तत्र न्येति' इति। 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ ५ ॥

जब सूर्य भी अस्त होजाता है, चन्द्रमा भी अस्त होता है, आग भी शान्त होती है,तब इस पुरुष की कौन ज्योति होती है हे याज्ञवल्क्य ! वाणी (आवाज़) ही इसकी ज्योति होती है 'वाणी रूपी ज्योति से बैठता है, इधर उधर जाता है,काम करता है और लौट आता है। इसी लिये हे सम्राट् जहां अपना हाथ भी नहीं दीखता, यदि वहां कोई आवाज़ उठती है, तो वहां ही वह पहुंच जाता है' *। 'ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य' ॥ ५ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुषः' इति। आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीति, आत्मैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति ॥६॥

जब सूर्य अस्त होजाता है, चन्द्रमा अस्त होता है, आग शान्त होती है, वाणी शान्त होती है, तब इस पुरुष की कौन ज्योति होती है,। 'आत्मा ही इसकी ज्योति होती है, आत्मा रूपी ज्योति से ही यह

---

* जैसे आवाज़ से व्यवहार चल जाते हैं, इसी तरह गन्ध आदि के ग्रहण करने से भी जाना आना आदि होता है, इस लिये उन को भी ज्योति समझना चाहिये ॥

बैठता है, इधर उधर जाता है, काम करता है, और लौट आता है' ६

कतम आत्मेति । योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः । स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव । स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्योरूपाणि ॥७॥ स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभि सम्पद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते । स उत्क्रामन्म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ ८ ॥

(जनक ने पूछा) 'वह आत्मा कौनसा है' ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) जो यह हृदय के अन्दर विज्ञानमय प्राणों (इन्द्रियों) से घिरा हुआ * ज्योति पुरुष (प्रकाश स्वरूप) है, वह एकरस हुआ दोनों लोकों † में घूमता है मानों सोचता है या चेष्टा करता है‡ । वह स्वप्न बनकर (स्वप्न की अवस्था में) इन दुनिया को उलांघ जाता है और मृत्यु के रूपों को § (उलांघ जाता है) ॥ ७ ॥ यह पुरुष जन्मता हुआ = शरीर धारण करता हुआ बुराइयों से जुड़ता है, और यह निकलता हुआ = मरता हुआ बुराइयों को छोड़ जाता है‖॥

---

* 'प्राणेषु' सामीप्यलक्षणा सप्तमी है, जैसे वृक्षों में पत्थर है, अर्थात् वृक्षों से घिरा हुआ है । देखो बृह० उप०४ । ४।२२। † इस लोक में, जब जाग्रत या स्वप्न में है, दूसरे लोक में, जब सुषुप्ति में है ॥ ‡ वास्तव में वह न सोचता है, न काम करता है, किन्तु बुद्धि और मन, जो रूप उसके सामने रखते हैं, उनका वह साक्षात् द्रष्टा है § इस दुनिया की उन सारी वस्तुओं को जो मौत के पंजे में है अर्थात् नष्ट होने वाली हैं ॥ ‖ शरीर धारण करके बाहरी अवस्थाओं के भीतर ईर्ष्या द्वेष आदि में पड़ता है, और शरीर को छोड़ता हुआ इनको यहीं छोड़ जाता है । यहां भी जाग्रत स्वप्न में जिन दोषों के अन्दर पड़ता है सुषुप्ति में उनको भूल जाता है । इससे स्पष्ट है, कि ये दोष बाहरी अवस्थाओं से प्रगट होते हैं । आत्मा

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः, इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयꣳस्वप्न स्थानं। तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोक स्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति, तमाक्रममाक्रम्योभयान्पाप्मन आनन्दाꣳश्च पश्यति। स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति। अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ॥९॥

और इस पुरुष के दो स्थान हैं, यह स्थान (जाग्रत) और दूसरे लोक का स्थान (सुषुप्ति), और तीसरा * मध्य स्थान जो स्वप्न का स्थान है। जब वह इस मध्य स्थान में होता है, तो इन दोनों स्थानों को देखता है, इस स्थान को और परलोक के स्थान को। अब जो सहारा † इसका परलोक के स्थान में होता है,उसी सहारे को पकड़ कर दोनों—बुराइयों और आनन्दों (खुशियों) को देखता है। और जब सोजाता है, तो इस दुनिया की, जिसमें सब कुछ है,मात्राओं (सूक्ष्म अंशों अर्थात् वासनाओं) को लेकर आप ही उनको नष्ट कर और फिर आप ही बनाकर

स्वतः विज्ञानमय ज्योति पुरुष ही है। बुराइयें, बुराइयों का कारण शरीर और इन्द्रिय (शंकराचार्य्य) * वास्तव में दो ही स्थान वा अवस्था हैं, जाग्रत और सुषुप्ति। तीसरी जगह जो इनके मेल की है, वह ठीक उसी तरह है, जैसे दोनों गाओं की सीमा (हद) होती है, जो दोनों से सम्बन्ध रखती है; लोक परलोक=यह जन्म और पर जन्म, स्वप्न में दोनों लोकों के स्वप्न देखता है (शंकराचार्य्य)

† कर्म ज्ञान और वासनाएं—देखो बृह० उप० ४।४।२॥

*अपने प्रकाश से अपनी ही ज्योति से स्वप्न को देखता है। इस अव-स्था में यह पुरुष स्वयंज्योति (बिना किसी दूसरी ज्योति के) होता है॥

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथ-योगान् पथः सृजते, न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भव-न्त्यथाऽनन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्ता ॥ १० ॥

न वहां (= स्वप्न अवस्था में) रथ, न घोड़े, न सड़कें होती हैं, पर वह रथ घोड़े और सड़कें रच लेता है। न वहां आनन्द, मोद और प्रमोद होते हैं, पर वह आनन्द मोद और प्रमोद को रच लेता है। न वहां तालाव, झीलें और नदियें होती हैं, पर वह तालाव, झीलें और नदियें रच लेता है ॥ १० ॥

तदेते श्लोका भवन्ति—'स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरैति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः॥११॥ प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः॥१२॥ स्वप्नान्त उच्चावच-मीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥ आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' इति। तं

*जो कुछ जाग्रत में देखा है, उसका चित्र लेकर, स्वप्न में, आपही पहले जाग्रत की दुनिया को हटाकर, स्वप्न की दुनिया को बनाकर, उसको बाहर के प्रकाश से नहीं, किन्तु अपनी ही ज्योति से देखता है ॥

नायतं बोधयेदित्याहुः । दुर्भिषज्यꣳहास्मै भवति, यमेष न प्रतिपद्यते । अथोखल्वाहुः—जागरितदेश एवास्यैष इति । यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति, तानि सुप्त इति । अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति' । 'सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि' इति ॥ १४ ॥

स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव । स यत्तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति । 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य । सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति ॥ १५॥

इस (विषय) में ये श्लोक हैं—नींद के द्वारा शरीर सम्बन्धि वस्तु को नाश करके आप न सोया हुआ वह (आत्मा) सोए हुओं (इन्द्रियों) को देखता है । (इन्द्रियों) की ज्योति को लेकर वह फिर अपनी जगह पर (जाग्रत में) आता है, वह सुनहरी पुरुष* अकेला हंस (अकेला ही जाग्रत, स्वप्न और लोक, परलोक में जाने वाला) ॥११॥ प्राण द्वारा निचले घोंसले (स्थूल शरीर) की रक्षा करता हुआ वह अमर (पंछी) (स्वप्न में) घोंसले से बाहर दूर घूमता है, वह अमर (पंछी) जाता है जहां उसकी मर्ज़ी है, वह सुनहरी पुरुष अकेला हंस ॥ १२ ॥ स्वप्न के स्थान में ऊंचे नीचे जाता हुआ वह देव बहुत रूपों (शकलों) को (अपने लिये) बनाता है । या स्त्रियों के साथ खुश होता हुआ या (मित्रों के साथ) हंसता हुआ या भय

---

* 'माध्यन्दिपाठ' पौरुषः 'एक हंसः' के विशेषण के तौर पर है । पर द्विवेदगङ्गने ''पौरुषः ' को ' पुरुषः ' के अर्थ में ही लिया है, जैसे यहां काण्वपाठ में है ॥

(के दृश्य) देखता हुआ ॥ १३ ॥ लोग उसके खेल की जगह को देखते हैं, उसको (= यह खेल खेलने वाले को) कोई नहीं देखता॥ कहते हैं कि उसको (गाढ निद्रा से) एकाएक न जगाए, क्योंकि उसका इलाज करना कठिन होता है, जिस (इन्द्रिय) की ओर यह (आत्मा) वापिस नहीं जाता है *। और कई लोग कहते हैं—यह (स्वप्न) इसकी जागने की जगह ही है, क्योंकि जिन वस्तुओं को जागता हुआ देखता है, उन्हीं को सोया हुआ (देखता है) यहां यह पुरुष स्वयं ज्योति (स्वयं प्रकाश) होता है। (जनक ने कहा) 'मैं भगवान् (आप) के लिये हज़ार (गौएं) देता हूं, इस से आगे (मेरे) मोक्ष के लिये कहो' † ॥१४॥ (याज्ञवल्क्य ने कहा) यह (पुरुष)

---

* मिलाओ—सुश्रुत ३।७।१॥

† आत्मा को स्वयं ज्योति सिद्ध करने के लिये यह प्रकरण उठाया है। इसी लिये पहले मनुष्य को सूर्य आदि बाह्य ज्योतियों की आवश्यकता दिखला कर अन्त में आत्मज्योति से ही उसके सारे निर्वाह दिखलाए हैं। और फिर इसी बात को और भी स्पष्ट दिखलाने के लिये आत्मा की तीनों अवस्थाओं को दिखलाया है। जिस से यह सिद्ध किया है कि जाग्रत में बाह्य प्रकाश की आवश्यकता है, इसलिये आत्मा के स्वयं ज्योति होने में सन्देह होसकता है, पर स्वप्न में तो आत्मा के साथ कोई ज्योति नहीं है, तो भी वह सब कुछ स्वयं बनाता है और स्वयं ही देखता है, यह स्वयं ज्योति होने का एक स्पष्ट प्रमाण है। अब इस प्रकरण में 'अथोखल्वाहु.........तानि सुप्तः इति'। यह किस अभिप्राय से है। उत्तर यह है कि इस से यह प्रकट किया है कि यद्यपि जाग्रत और स्वप्न के ज्ञान में कोई भेद नहीं है, जिन पदार्थों को पुरुष जागता हुआ देखता है, उन्हीं को सोया हुआ भी देखता है, तथापि जाग्रत में इन्द्रियों की ज्योति से देखता है और स्वप्न में इन्द्रिय बन्द होते हैं, यहां आत्मा अपनी ज्योति से ही देखता है, इसलिये कहा है 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति'॥ 'इससे आगे मोक्ष के लिये कहो' जनक का इस

इस सुषुप्ति (सम्प्रसाद=गहरी नींद) में रमण कर और विचर कर और भले बुरे को देखकर ही फिर उलटा वापिस, जिस स्थान से गया था, उसी स्थान में (स्वप्न स्थान में) वह आता है स्वप्न के लिये। और वह वहां जो कुछ देखता है वह उस से बन्धा हुआ नहीं होता है, * क्योंकि यह पुरुष असंग है। (जनक ने कहा) ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य ! मैं भगवान् को हज़ार (गौएं) देता हूं, इससे आगे फिर मोक्ष के लिये कहो ॥ १५ ॥

'स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनःप्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव। स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति। 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य, सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति ॥ १६ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा) वह (पुरुष) इस स्वप्न में रमण कर, और विचर कर, और भले बुरे को देखकर ही, फिर उलटा वापिस, जिस स्थान से गया था, उसी स्थान में (जाग्रत स्थान में) आता है जागने के लिये। वह वहां (स्वप्न में) जो कुछ देखता है, वह उससे बन्धा हुआ नहीं होता है, क्योंकि यह पुरुष असंग है। (जनक ने कहा) ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य ! मैं (इसके बदले) भगवान् को हज़ार (गौएं) देता हूं, इससे आगे फिर मोक्ष के लिये ही कहो ॥ १६ ॥

वचन के कहने से यह अभिप्राय है कि आत्मा का यथार्थ ज्ञान मोक्ष का हेतु है, सो आत्मा के विषय में जो ज्ञान आपने दिया है, उसके बदले मैं हज़ार गौएं देता हूं, और इस उपदेश को आप मेरे मोक्ष के लिये ज़ारी रक्खें, जब तक आप मुझे पूर्ण ज्ञान न दे लें॥

* अक्षरार्थ—वह उसके पीछे नहीं आता है, अर्थात् आत्मा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाता है, पर उस अवस्था के भले बुरे सारे दृश्य वहीं के वहीं रह जाते हैं, उसके साथ नहीं जाते॥

स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥१७॥ तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं च, एवमेवायं पुरुषः एतावुभावन्तावनु संचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥ १८ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा) वह (पुरुष) इस जाग्रत की अवस्था में रमण कर और विचर कर और भले बुरे को देखकर ही फिर उलटा वापिस आता है, जिस स्थान से गया था, उसी स्थान में स्वप्न की अवस्था के लिये ॥१७॥ सो जैसे एक बड़ी मछली (नदी के) पूर्व और परले दोनों किनारों की ओर फिरती है, इसीप्रकार यह पुरुष दोनों अवस्थाओं की ओर फिरता है स्वप्न की अवस्था की ओर, और जाग्रत की अवस्था की ओर * ॥१८॥

सं०-अब इसके आगे सुषुप्ति अवस्था का वर्णन करते हैं:—

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति, यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति ॥ १९ ॥

और जैसे एक बाज़ वा कोई और(तेज़) पंछी इस आकाश में इधर उधर उड़कर, थका हुआ, दोनों पंखों को लपेट कर, घोंसले की ओर मुड़ता है, इसी प्रकार यह(पुरुष)इस अवस्था की ओर दौड़ता है, जहां गहरा सोया हुआ न कोई कामना चाहता है, न कोई स्वप्न देखता है ॥

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा

---

* महामत्स्य जैसे दोनों किनारों की ओर फिरता हुआ उन से अलग है, और असङ्ग है, इसी प्रकार आत्मा इन अवस्थाओं में घूमता हुआ इन अवस्थाओं से अलग है और असङ्ग है ॥

भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पिंगलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णाः । अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति, यदेव जाग्रद्भयं पश्यति, तदत्राविद्यया मन्यते । अथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳसर्वोऽस्मीति मन्यते, सोऽस्य परमो लोकः ॥२०॥ तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳरूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् । तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामꣳरूपꣳशोकान्तरम् ॥२१॥

वे जो हिता नामी इसकी नाड़ियें हैं—इतनी सूक्ष्मता से (शरीर में) स्थित हैं, जितना कि बाल हज़ार टुकड़े किया हुआ हो, और वे नाड़ियें श्वेत, नीले, पीले, हरे और लाल रङ्ग से भरी हुई हैं * । अब जब कि वह इसको मानों मारते हैं, मानों वश में करते हैं,

* द्विवेद गङ्ग ने लिखा है—कि यदि कफ अधिक हो और वात और पित्त अल्प हों, तो नाडियों में श्वेत रस बहता है; यदि वात अधिक हो और कफ और पित्त अल्प हों, तो नीला; यदि पित्त अधिक हो और वात और कफ अल्प हों, तो पीला; यदि वात कफ अधिक और पित्त अल्प हो, तो हरा; और यदि तीनों धातु सम हों, तो लाल रस बहता है । आनन्दगिरि के लेख का भी यही आशय है और उसने यह भी दिखलाया है, कि इनके आपस में न्यून अधिक और सम संयोग के होने से बहुत से और विचित्र रङ्ग बनजाते हैं, इस पर सुश्रुत का प्रमाण भी दिखलाया है । यहां इन नाडियों के वर्णन करने का अभिप्राय स्वामि शंकराचार्य लिखते हैं कि स्वप्न में लिङ्ग शरीर इन अति सूक्ष्म नाडियों में घूमता है ॥

मानों हाथी (इसका) पीछा करता है, मानों गढ़े में गिरता है, (निदान) वह जागता हुआ जो भय (खतरा) देखता है, वही यहां अविद्या (अज्ञान) से ख्याल कर लेता है *। फिर जब वह अपने आप को एक देवता की नाईं वा राजा की नाईं 'मैं ही यह सब कुछ हूं' ऐसा ख्याल करता है, † यह इसका परमलोक (सब से ऊंची दुनिया) है ॥२०॥ सो यह इसका (सच्चा) रूप है, जहां

---

* स्वप्न में जो कुछ देखता है, वह उसका ख्याल ही होता है, इसलिये हरएक के साथ 'इव'='मानो' शब्द दिया है, और अन्त में कहा है, 'अविद्यया मन्यते' अविद्या से ख्याल कर लेता है ॥

† यह सुषुप्ति का वर्णन है, इसी लिये माध्यन्दिन यहां 'परमो लोकः' के आगे इस पाठ को दुहराते हैं 'यत्र सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति'। जो पाठ यहां १९ वीं कण्डिका के अन्त में आया है। इस अवस्था में मनुष्य देवता की नाईं वा राजा की नाईं अपने आप को पूर्ण समझता है, उसको किसी से कोई भय वहां नहीं रहता, सारे भय जो स्वप्न में हैं, वे यहां आकर मिट जाते हैं। १९ वीं कण्डिका में सुषुप्ति का वर्णन करके यहां २० वीं में दिखलाया है, कि जब लिङ्गदेह सूक्ष्म नाडियों के अन्दर घूमता हुआ जाग्रत् के सारे भय अनुभव करता है, वह सुषुप्ति नहीं, सुषुप्ति उसके पीछे की अवस्था है, जब मनुष्य राजाधिराज की नाईं आप ही सब कुछ बन जाता है, अर्थात् कोई त्रुटि उस में नहीं रहती, उस अवस्था में दूसरी वस्तु जो भय का कारण हुआ करती है, उसके लिये नहीं होती, इसलिये कहा है 'मैं ही यह सब कुछ हूं' ऐसा ख्याल करता है। अगली कण्डिकाओं के देखने से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा ॥

'जैसे भयानक स्वप्न देखता है, वैसे ही जब जाग्रत में देहभाव की वासना प्रगट होती है, तो स्वप्न में भी अपने आपको देवता की नाईं समझता है और जब राजभाव की वासना प्रगट होती है, तो स्वप्न में भी राजा की नाईं समझता है और जब अविद्या बिलकुल नष्ट हो कर मैं ही सब कुछ हूं, यह विद्या प्रगट होती है, तो स्वप्न में भी उसी वासना से वासित होकर 'अहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मि' 'ख्याल

कोई इच्छा नहीं * कोई पाप नहीं, कोई भय नहीं। सो जैसे कोई प्यारी पत्नी से गले लगाया हुआ, न कुछ बाहर देखता है, न अन्दर; इसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से गले लगाया हुआ न कुछ बाहर जानता है, न अन्दर। निःसन्देह यह इस का वह रूप है, जहां सारी कामनाएं पूरी हुई हैं, जहां (केवल) आत्मा की कामना है, जहां कोई कामना शेष नहीं है—जो हरएक शोक से रहित † है ॥ २१ ॥

अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो, भ्रूणहाऽभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डालः,पौल्कसोऽपौल्कसः, श्रमणोऽश्रमणः,तापसोऽतापसः, अन-

---

करता है और यह इस का असली स्वरूप है' (स्वामिशंकराचार्य) पर यदि यहां 'अहमेव' से नया वाक्य आरम्भ होता, तब इस अकेले वचन का 'सोऽस्य परमोलोकः'='वह इसका असली रूप है' के साथ सम्बन्ध होता,जो स्वामिशंकराचार्य को अभिमत है।परंतु वाक्य'अथ यत्रदेव इव' से आरम्भ होता है, इसलिये इस सारे का सम्बन्ध ही 'परमोलोकः' से है। और यह स्वामिशंकराचार्य को अभिमत नहीं, क्योंकि देवता और राजा की नाईं समझना आत्मा का असली रूप नहीं। इसलिये 'परमोलोकः'से यहां अभिप्राय सब से ऊंची दुनिया है और वह जाग्रत स्वप्न की दुनिया की अपेक्षा सुषुप्ति है॥

* 'अतिछन्दाः' आकारान्त छन्द शब्द इच्छा वाची होता है, जैसे स्वच्छन्द, परच्छन्द। गायत्र्यादि छन्दोवाची 'छन्दस्' सकारान्त है। तथापि यहां रूप का विशेषण होने से 'अतिच्छन्दं' होना चाहिये।दीर्घ छान्दस है(शंकराचार्य);माध्यान्दिन पाठ अतिछन्दो है॥

† माध्यन्दिन पाठ 'अशोकान्तरम्' है। अभिप्राय दोनों में एक है। शोकान्तरम्=शोकछिद्रं=शोकशून्यम्=शोक से खाली, और 'अशोकान्तरम्'=न विद्यते शोकोऽन्तरे मध्ये यस्य तत्, जिसके अन्दर शोक नहीं है॥

न्वागतं पुण्येन, अनन्वागतं पापेन । तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति ॥२२॥ यद्वै तन्नपश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति, नहि द्रष्टुर्दृष्टे र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, नतु तद्द्वितीयमस्तिततोऽन्यद्विविभक्तं यत् पश्येत् ॥२३॥ यद्वै तन्न जिघ्राति,जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति । नहि घ्रातुर्घ्राते र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद । नतु तद द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद विभक्तं यज् जिघ्रेत् ॥२४॥यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते। नाहि रसयितू रसयितेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद । न तु तद द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद विभक्तं यत् रसयेत् ॥ २५ ॥ यद्वै तन्न वदति, वदन्वै तन्न तन्न वदन्ति । नहि वक्तु र्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद, नतु तद द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद विभक्तं यद् वदेत्॥२६॥यद्वै तन्न शृणोति,शृण्वन् वै तन्न शृणोति।नहि श्रोतुः श्रुते र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद, नतु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद विभक्तं यच्छृणुयात् ॥ २७ ॥

* यहां पिता,पिता नहीं है, माता,माता नहीं है, लोक (दुनियाएं)

---

* इस अवस्था में यह आत्मा सारे सम्बन्धों से अतीत होता है जाग्रत में जो किसी का पिता है, वह अब इस अवस्था में अपने पुत्र के प्रति पिता नहीं है, इसी प्रकार पुत्र भी पुत्र नहीं है। जो जाग्रत में दुनियां थीं, वे अब हमारे लिये दुनिया नहीं हैं॥

लोक नहीं हैं, देवता, देवता नहीं हैं, वेद, वेद नहीं हैं। अब चोर* चोर नहीं है, हत्यारा† हत्यारा नहीं है, चाण्डाल ‡ चाण्डाल नहीं है, पौल्कस § पौल्कस नहीं है, भिक्षु (संन्यासी) भिक्षु नहीं है, तपस्वी (वानप्रस्थ) तपस्वी नहीं है ‖ इस रूप में भलाई उसके पीछे नहीं आई है, बुराई उसके पीछे नहीं आई है **। क्योंकि वह उस समय के सारे शोकों को पार उतरा हुआ होता है ॥ २२ ॥ और जो वहां (सुषुप्ति में) वह नहीं देखता है, सो देखता हुआ ही वहां नहीं देखता है। क्योंकि द्रष्टा से दृष्टि का लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु वहां उससे अलग कोई दूसरी वस्तु है नहीं, जिसको वह देखे †† ॥२३॥ जब वह वहां (सुषुप्ति में)

---

* 'भ्रूणहन्' शब्द के साथ आने (साहचर्य) से यहां चोर से ब्राह्मण के सुवर्ण का चुराने वाला अभिप्रेत है (शंकराचार्य)

† भ्रूणहा=वरिष्ठब्राह्मणहन्ता=श्रेष्ठ ब्राह्मण का मारने वाला (आनन्द गिरि) ‡ ब्राह्मणी माता से शूद्र पिता का पुत्र ॥

§ क्षत्रिय माता से शूद्र पिता का पुत्र, इन दोनों (चाण्डाल, पौल्कस) शब्दों से जाति सम्बन्ध का अभाव दिखलाया है ‖ श्रमण और तापस शब्दों से आश्रम सम्बन्ध से अतीत दिखलाया है ॥

**'अनन्वागतं' नपुंसक है, और यह रूप की तर्फ इशारा है, काण्व पाठ ऐसाही है और स्वामिशंकराचार्य ने भी ऐसाही माना है। माध्यन्दिन शतपथ जो छपा है, उसमें 'अनन्वागतः' पुल्लिंग निर्देश है, जैसा पूर्व १५, १६ कण्डिका आदि में आया है। तब इसका यही अर्थ होता है कि भलाई इसके पीछे नहीं आई है इत्यादि। पर माध्यन्दिन पाठ भी द्विवेदगङ्ग ने 'अनन्वागतं' ही माना है॥ †† जिस तरह अग्नि का जलना, जब तक अग्नि है, तब तक विद्यमान है। इसी प्रकार यह आत्मा द्रष्टा है, जब तक आत्मा है, तब तक उसकी दृष्टि उसके साथ है। आत्मा अविनाशी है, इसलिये उसकी दृष्टि भी अविनाशी है। पर वह अविनाशी दृष्टि आंख नहीं, आत्मा का अपना निजरूपही है, वह आत्मा से अलग नहीं होसक्ती। (प्रश्न) तो फिर सुषुप्ति में देखता क्यों नहीं, (उत्तर) इसलिये कि वहां कोई दूसरी वस्तु

नहीं सूंघता है, तो वह सूंघता हुआ नहीं सूंघता है। क्योंकि सूंघने वाले से सूंघने का लोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु वहां कोई दूसरी वस्तु उससे अलग है नहीं, जिसको कि वह सूंघे ॥२४॥ और जो वह वहां (सुषुप्ति में) रस नहीं लेता है, तो वह रस लेता हुआ ही रस नहीं लेता है। क्योंकि रस लेने वाले से रस लेने का लोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु वहां कोई दूसरी वस्तु उससे अलग है नहीं, जिसका कि वह रस ले॥२५॥और जो वह वहां नहीं बोलता है,तो वह बोलता हुआ ही नहीं बोलता है, क्योंकि बोलने वाले से बोलने का लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है, किन्तु वहां कोई और वस्तु उससे अलग है नहीं,जिस(वस्तु)को वह बतलाए॥२६॥और जो वह वहां नहीं सुनता है, तो वह सुनता हुआ ही नहीं सुनता है। क्योंकि सुनने वाले से सुनने का लोप नहीं होता है, किन्तु वहां कोई दूसरी वस्तु उससे अलग है नहीं, जिसको वह सुने ॥२७॥

यद्वै तन्न मनुते,मन्वानो वै तन्न मनुते। नहि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, नतु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद् विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥

और जो वह वहां नहीं सोचता है, तो वह सोचता हुआ ही नहीं सोचता है। क्योंकि सोचने वाले से सोचने का लोप नहीं होता है, किन्तु वहां कोई दूसरी वस्तु उससे अलग है नहीं जिसको वह सोचे

यद्वै तन्न स्पृशति, स्पृशन्वै तन्न स्पृशति। नहि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, नतु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद् विभक्तं यत् स्पृशेत् ॥२९॥

नहीं जिसको देखे, वहां केवल आत्मा ही आत्मा है। स्वप्न में जब दूसरी वस्तु-वासना है, तो वह आंख के बन्द रहने पर भी देखता है॥

और जो वह वहां नहीं छूता है, तो वह छूता हुआ ही नहीं छूता है। क्योंकि छूने वाले से छूने का लोप नहीं होता है, किन्तु वहां कोई दूसरी वस्तु उससे अलग है नहीं, जिसको वह छुए ॥२९॥

यद्वै तन्न विजानाति, विजानन्वै तन्न विजानाति। नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, नतु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद् विभक्तं यद्विजानीयात् ॥ ३० ॥ यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्यो ऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत् स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥३१॥ सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परमा आनन्दः। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति॥३२

और जो वह वहां नहीं जानता है, तो वह जानता हुआ ही नहीं जानता है। क्योंकि ज्ञाता से ज्ञान का लोप नहीं होता है। क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु वहां कोई उससे अलग दूसरी वस्तु है नहीं, जिस को वह जाने * ॥३०॥ जहां दूसरा सा भी

---

* जाग्रत और स्वप्न में आत्मा देखता सुनता है, इसलिये इन अवस्थाओं में आत्मा के ज्योतिरूप होने में कोई सन्देह नहीं हो सका। पर यदि आत्मा ज्योतिस्स्वभाव है, तो यह स्वभाव उस का सुषुप्ति में क्यों नहीं रहता? इसका उत्तर इस विस्तार के साथ दे दिया है, कि जिस तरह सूर्य्य के प्रकाश के सामने जो वस्तु है, उस को वह प्रकाशित करता है, पर जहां कोई दूसरी वस्तु नहीं, वहां

* हो, वहां दूसरा दूसरे को देखे, दूसरा दूसरे को सूंघे, दूसरा, दूसरे को चखे, दूसरा दूसरे को बतलाए, दूसरा दूसरे को सुने दूसरा दूसरे को सोचे, दूसरा दूसरे को छुए, दूसरा दूसरे को जाने ॥ ३१ ॥ वह देखने वाला एक समुद्र † बिना द्वैत के है†, यह ब्रह्मलोक ‡ है, हे सम्राट्! यह याज्ञवल्क्य ने उसे शिक्षा दी। यह इसकी सब से ऊंची गति है, यह इस की सब से ऊंची सम्पदा (विभूति) है, यह इस की सब से ऊंची दुनिया है, यह इसका सब से ऊंचा आनन्द है। और सारे जीवधारी इसी आनन्द का एक छोटा सा हिस्सा उपभोग करते हैं ॥३२॥

स यो मनुष्याणाᳪराद्धः समृद्धोभवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः। अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः,स एकः

प्रकाश स्वयं विद्यमान होता हुआ भी किस को प्रकाशित करे। इसी प्रकार सुषुप्ति में द्रष्टा के सामने कोई दृश्य नहीं,जिसको कि वह देखे। देखना सुनना आदि धर्म भिन्न२ नहीं, किन्तु यह एकही धर्म के विशेष हैं अर्थात् जानना। आंख से जानने का नाम देखना है और कान से जानने का नाम सुनना। आंख उसके सामने रूप को ला रखती है और कान शब्द को। सुषुप्ति में ये इन्द्रिय थककर आराम करते हैं, तब उसके सामने कोई दृश्य नहीं रहता, जिस पर उसका प्रकाश पड़े। पर प्रकाश रूप (ज्ञान स्वरूप) वह उस समय भी है। अगर कोई वस्तु उसके सामने होती, तो वह प्रकाशित करता, जब कोई वस्तु है नहीं, तो किसको प्रकाशित करे॥

* स्वप्न में यद्यपि दूसरी वस्तु नहीं होती, तथापि ख्याली वस्तु बनसी जाती है, इसलिये ' इव '=सा कहा है॥

† अर्थात् समुद्र की नाईं एक रूप हैं। सब देखने सुनने आदि की शक्तियें जहां अपने विशेष रूप को त्यागकर एक रूप बनी हुई हैं॥

‡ यह ब्रह्मलोक है, जहां आत्मा ब्रह्म में रहता है॥

पितॄणां जितलोकानामानन्दः। अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः, स एको गन्धर्वलोक आनन्दः। अथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः, स एकः कर्मदेवानामानन्दो, ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते। अथ ये शतं कर्मदेवाना मानन्दाः, स एक आजान देवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः, स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथैष एव परम आनन्दः, एष ब्रह्मलोकः सम्राड्, इति होवाच याज्ञवल्क्यः। 'सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति। अत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयाञ्चकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्य उदरौत्सीदिति

वह जो मनुष्यों में ऋद्धिवाला, समृद्धिवाला * और दूसरों का स्वतन्त्र मालिक है। मनुष्य के सारे उपभोगों से भरा हुआ है, वह मनुष्य का सब से ऊंचा आनन्द है। अब जो मनुष्यों के सौ आनन्द हैं, वह उन पितरों का एक आनन्द है, जिन्होंने (पितरों के) लोक को जीता है। अब जो उन पितरों के सौ आनन्द हैं, जिन्हों ने (पितृ-) लोक को जीता है, वह गन्धर्व लोक में एक आनन्द है। और जो गन्धर्वलोक में सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेवों का एक आनन्द

* ऋद्धिवाला=सम्पूर्ण अङ्गों वाला, हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ। और समृद्धि वाला=उपभोग की सारी सामग्री वाला॥

है, जो कि कर्म से देवतापन को प्राप्त हुए हैं, और जो कर्मदेवों के सौ आनन्द हैं, वह एक आजान देवों (जो जन्म से ही देवता हैं) का आनन्द है, और वह उस श्रोत्रिय (पूरे तौरपर वेद के जानने वाले) को भी आनन्द है, जो पाप से दूर है और कामनाओं से दबाया हुआ नहीं है। और जो आजानदेवों के सौ आनन्द हैं,वह एक प्रजापति लोक में आनन्द है, और उस श्रोत्रिय को भी, जो पाप से दूर है और कामनाओं से रहित है। और जो प्रजापति लोक में सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मलोक में एक आनन्द है और उस श्रोत्रिय को भी, जो पाप से दूर है और कामनाओं से रहित है *

* निष्पाप और अकामहत श्रोत्रिय के आनन्द की तुलना निचली भूमियों में नहीं दिखलाई, किन्तु आजानदेवों के आनन्द से तुलना आरम्भ की है, और ब्रह्मलोक के आनन्द तक बराबर तुलना दिखलाई है। यहां यह प्रश्न होता है, कि यदि निष्पाप और अकामहत श्रोत्रिय का आनन्द ब्रह्मलोक के आनन्द के सदृश है, तो फिर ब्रह्मलोक से निचली दो भूमियों में उसकी तुलना क्यों की? इसका उत्तर यह है कि श्रोत्रिय होना और निष्पाप होना तो सब भूमियों में एक समान है, पर अकामहत होने में भेद है, किसी की छोटी २ कामनाएं तो दूर होचुकी हैं, पर ऊंची कामनाएं विद्यमान हैं, जैसे यश की कामना है। और कोई इन कामनाओं से भी ऊंचा पहुंचगया है, इसलिये उन के आनन्द में भेद हो जाता है, किसी का आनन्द आजानदेवों के तुल्य है, किसी को प्रजापति लोक के, और अत्यन्त अकामहत को ब्रह्मलोक के तुल्य है। और इसी भेद के कारण यह तुलना आजानदेवों से भी छोटी भूमियों में भी की जासक्ती है, जैसा तै० उप० २।८ में दिखलाई है। इस प्रकार जो यह परम आनन्द उस अवस्था में है, यह निष्पाप और अकामहत श्रोत्रिय को प्रत्यक्ष होता है। जो इस परम आनन्द को प्रत्यक्ष देखना चाहता है, उसे चाहिये कि वेद के विचार में तत्पर हो पाप से परे रहे और तृष्णा को क्षय करे। क्योंकि:—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।

और यह सब से ऊंचा आनन्द है । यह ब्रह्मलोक * है, हे सम्राट्' यह याज्ञवल्क्य ने कहा । (जनक ने कहा) 'मैं (इसके बदले) भगवान् को हज़ार (गौएं) देता हूं, इस से आगे मुझे मोक्ष के लिये ही कहो' । यहां याज्ञवल्क्य को भय हुआ कि मेधावी (समझ वाले) राजा ने सारी अवस्थाओं (के कहने) के लिये मुझे मजबूर कर दिया है † ॥३३॥

स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥ तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायाद्, एवमेवायंँ शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति, यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥३५॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा) वह (पुरुष) इस स्वप्न की अवस्था में रमण कर विचर कर और भले बुरे को देखकर ही फिर उलटा वापिस आता है जहां से वह गया था, अर्थात् जागने की की अवस्था के लिये ‡ ॥ ३४ ॥ सो जैसे पूरा लदा हुआ छकड़ा चीकता हुआ (चींचीं करता हुआ) जाता है, इसी प्रकार यह शरीर वाला आत्मा प्राज्ञ आत्मा से सवार हुआ

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

इस लोक में जो कामसुख है और जो दिव्य बड़ा सुख है । यह दोनों तृष्णाक्षय के सुख की सोहलवीं कला के बराबर नहीं हैं ॥

* देखो तै० उप० २ । ८; छान्दो० उप० ८।२।१-१० कौषी उप० १।३।५॥

† याज्ञवल्क्य को इसलिये भय नहीं हुआ कि उसका अपना ज्ञान अपूर्ण है, किन्तु इसलिये कि राजा को हक है, जो कुछ चाहे पूछे और अब उस हक से यह मुझे एक ही साथ सारे रहस्य खोलने के लिये अनुरोध कर रहा है ॥ ‡ देखो पूर्व कण्डिका १७ ॥

चीकता हुआ जाता है, जब यह मरने को होता है * ॥ ३५ ॥

स यत्रायमणिमानं न्येति, जरया वोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति । तद्यथाऽऽम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यते, एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥३६॥ तद्यथा राजानमायान्त मुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीति, एवꣳहैवं विदꣳसर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

और जब यह कमज़ोरी की तर्फ नीचे जाता है, बुढ़ापे से या बीमारी से कमज़ोरी में डूबजाता है, उस समय यह पुरुष, जिस तरह आम या गूलर (हंजीर) या पिप्पल (फल) अपनी डंडी से छूट जाता है, ठीक इसी तरह इन अंगों से छूटकर फिर † उलटा वापिस उसी स्थान की ओर जाता है जहां से आया था (नए जीवन के लिये ही॥३६॥जैसे आते हुए राजा के लिये पुलीस वाले (सिपाही), मजिस्ट्रेट, घोड़ों के चलाने वाले (सूत) और नम्बरदार(गाओं के हाकिम) अन्न पान और महलों से तय्यार रहते हैं, यह कहते हुए, कि यह आरहा है यह आया । इसी प्रकार सारे भूत ‡ उसके लिये तय्यार रहते हैं जो यह जानता है, यह कहते

* ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति=अक्षरार्थ ऊपर को सांस भरता है ॥

† पुनः=फिर, कहने से यह सिद्ध होता है, कि पहले भी कई वार एक देह से दूसरे देह में गया है, जैसे स्वप्न और जाग्रत में वार २ जाता है, इसी तरह एक देह से दूसरे देह में वार२ जाता है। ‡ शरीर के बनाने वाले महाभूत और इन्द्रियों के सहायक सूर्य्य आदि ॥

हुए कि 'यह ब्रह्म * आरहा है, यह आया' ॥ ३७ ॥

तद्यथा राजानं प्रयियासन्त मुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्ति, एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ३८

और जैसे जाना चाहते हुए राजा के पास पुलीस वाले, मजिस्ट्रेट, घोड़ों के चलाने वाले और नम्बरदार इकट्ठे होकर आते हैं, इसी प्रकार सारे प्राण (इन्द्रिय) अन्तकाल में इस आत्मा के पास इकट्ठे होकर आते हैं, जब यह मरने को होता है ॥ ३८ ॥

* चौथा ब्राह्मण *

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिवन्येति, अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति । स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति । स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥ एकीभवति न पश्यतीत्याहुः । एकीभवति न जिघ्रतीत्याहुः । एकीभवति न रसयत इत्याहुः । एकीभवति न वदतीत्याहुः । एकीभवति न शृणोतीत्याहुः । एकीभवति न मनुत इत्याहुः । एकीभवति न स्पृशतीत्याहुः । एकीभवति न विजानातीत्याहुः । तस्य हैतस्य हृद-

---

* आत्मा दुनिया का भोगने वाला और बनाने वाला है । बनाने वाला होने से उसे ब्रह्म कहा है । बनाने वाला इसलिये कि दुनिया उस के कर्म का फल है । जैसी दुनिया में आत्मा जाता है, वह मानों उसके लिये कर्मों ने बनाई है, इसी लिये कहा है—

"कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते" ।

अर्थ—अपनी बनाई हुई दुनिया में पुरुष पैदा होता है ॥

यस्याग्रं प्रद्योतते,तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति, चक्षुष्टो वा मूर्ध्नोवा अन्येभ्योवा शरीरदेशेभ्यः। तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति,प्राणमनूत्क्रामन्तᳪसर्वेप्राणा अनूत्क्रामन्ति। सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च॥२

जब यह आत्मा कमज़ोरी में डूबकर मानो बेखबरी (बेहवासी) में डूबता है, तब सारे प्राण इकट्ठे होकर इसके पास आते हैं, और वह इन तेज के अंशों (इन्द्रियों) को अपने साथ लेकर हृदय में उतरता है। और जब यह चाक्षुष (आंख में का) पुरुष * बाहर वापिस आजाता है, तब वह किसी रूप को नहीं जानता है ॥ १॥ एक हो जाता है † (तब पास के लोग) कहते हैं—' अब नहीं देखता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं—'नहीं सूंघता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं 'रस नहीं अनुभव करता है' एक होजाता है, वे कहते हैं 'नहीं बोलता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं 'नहीं सुनता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं 'नहीं सोचता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं 'नहीं छूता है' एक होजाता है, वे कहते हैं 'नहीं जानता है'। अब उसके हृदय का अग्र ‡ प्रकाशित होजाता है, इस प्रकाश से वह आत्मा निकलता है, या तो आंख से, § या

---

* चाक्षुषपुरुष=सूर्य्य का वह अंश जो आंख में है, जब कि आंख काम करती है, और जो मरने के समय निकल कर सूर्य्य में जामिलता है (शंकराचार्य) † इन्द्रिय, लिङ्ग शरीर के साथ एक हो जाता है, अलग काम नहीं करता, इसी विषय में कौषी०उप० ३। ३ में कहा है—'प्राण एकीभवति'=प्राण में एक होता है॥

‡ वह हिस्सा जहां से हिता नाडियें हृदय से ऊपर जाती हैं। § जब उसका ज्ञान और कर्म उसके लिये सूर्य लोक की प्राप्ति का साधन

मूर्धा (सिर) से * या शरीर के दूसरे हिस्सों से। और जब वह निकलता है तो (मुख्य) प्राण उसके पीछे निकलता है, और जब प्राण (जीवन) निकलता है, तो सारे प्राण (इन्द्रिय) उसके पीछे निकलते हैं। वह विज्ञान सहित ही चलता है † उसको (उसकी) विद्या(उपासना)और कर्म सहारा देते हैं और पहली प्रज्ञा‡(बुद्धि)भी

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुप सꣳहरति, एवमेवायमात्मेदꣳशरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुप सꣳहरति ॥३॥ तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं तनुते,

---

होते हैं (शंकराचार्य) * जब उसका ज्ञान और कर्म उसके लिये ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन होते हैं (शंकराचार्य) † जैसे ज्ञान और कर्म उसने सेवन किये हैं, जिनका फल अब परलोक में उस ने उपलब्ध करना है, उनके अनुसार उसकी वासनाएं जाग पड़ती हैं और वह उन संस्कारों को साथ लेकर चलता है। इसलिये वह जो अपने इस समय को रमणीय बनाना चाहता है, उसे पहले ही श्रद्धा के साथ परमात्मा की भक्ति और पुण्य का संचय करना चाहिये

‡ विद्या कर्म और पूर्वप्रज्ञा, ये ही तीनों परलोक का सहारा बनते हैं।जैसे कर्म और जैसी उपासना है,तदनुसार उसको उच्च नीच योनि मिलती है। और जो बच्चों में समझ का भेद है,वह उनकी पूर्व प्रज्ञा के अनुसार होता है, यह स्पष्ट देखने में आता है, कि कई बच्चे थोड़े अभ्यास से ही चित्र खींचने आदि में ऐसे चतुर निकलते हैं, जैसे दूसरे अभ्यास से भी नहीं। इसी प्रकार सब विषयों में स्वभाव से किसी में कौशल और किसी में अकौशल देखते हैं, यह सब उनकी पूर्व प्रज्ञा के प्रगट होने और प्रगट न होने के कारण है। अतएव मनुष्य को अपने दूसरे जन्म के सुधार के लिये शुभविद्या शुभकर्म और शुभप्रज्ञा सम्पादन करनी चाहिये ॥

एवमेवायमात्मेदꣳशरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं कुरुते,पित्र्यंवा गान्धर्ववा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम्॥४॥

जैसे भुनगा (सुण्डी) तिनके के अन्त पर पहुंच कर और एक और सहारा पकड़ कर अपने आपको खींच लेता है, इसी प्रकार यह आत्मा शरीर को परे फैंक कर *—अचेतन बनाकर † और एक और सहारा पकड़ कर अपने आपको खींच लेता है ॥३॥

सो जैसे सुनार सोने का एक टुकड़ा लेकर उस से एक और अधिक नया और अधिक सुन्दर रूप (शकल) फैलाता है (=बनाता है)। इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को परे फैंक कर—अचेतन बनाकर, अधिक नया और अधिक सुन्दर और रूप बना लेता है या पितरों का ‡ या गन्धर्वों का या देवताओं का या प्रजापति का या ब्रह्मा का अथवा दूसरे प्राणधारियों का (अपने २ ज्ञान कर्म और पूर्व प्रज्ञा के अनुसार) ॥ ४ ॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म,विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुमयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमय स्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः। तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो

* देखो बृह० उप० ४।३।९; ४।३।११॥

† अथवा अविद्या को निकाल कर॥

‡ पितृभ्योहितं=पितरों के लिये हितकारी, पितृलोक के उपभोग के योग्य, इसी प्रकार गन्धर्वों के उपभोग योग्य इत्यादि (शंकराचार्य)

भवति । पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहुः 'काममय एवायं पुरुषः' इति । स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ॥ ५ ॥

सो यह आत्मा ब्रह्म विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, और सर्वमय है * । सो जो यहमय और वहमय, (यहरूप और वहरूप) है, सो जैसा कर्म करने वाला और जैसा बर्ताव करने वाला होता है, वैसा ही वह बनता है:—नेकी करने वाला नेक बनता है और बुराई करने वाला बुरा बनता है । पुण्य कर्म से वह पुण्यात्मा बनता है, और पाप कर्म से पापात्मा बनता है । और कहते हैं, कि यह पुरुष कामनामय † ही है, उस की जैसी कामना होती है, वैसा इरादा होता है,

* आत्मा ब्रह्म के सदृश स्वयं चितिरूप है, वह जिस २ में लगता है वह २ रूप बन जाता है, बुद्धि से निश्चय करता हुआ विज्ञानमय और मन से इरादा करता हुआ मनोमय बन जाता है, प्राण से जीवन की रक्षा करता हुआ प्राणमय आंख से देखता हुआ चक्षुर्मय और कान से सुनता हुआ श्रोत्रमय होता है, वह जिसप्रकार प्राण और इन्द्रियों में तत्तद्रूप प्रतीत होता है, इसी प्रकार वह इस भौतिक शरीर में भूतमय बन जाता है । और इसी प्रकार वह हृदय के भावों में और अपनी लग्न में तत्तद्रूप बनजाता है । कामना में लग कर वह काममय है और कामना को त्यागकर अकाममय है । वह धर्म की लग्न में धर्ममय है और धर्म के त्याग में अधर्ममय है । इस प्रकार यह आत्मा सर्वमय है, यह जैसी अवस्था में इस दुनिया में रहता है, वैसाही बन जाता है, और वैसाही आगे जाकर फल पाता है ॥ † जैसा चाहता है, वैसा ही बनता है और वैसा ही भोगता है

जैसा इरादा होता है, वैसा कर्म करता है, और जैसा कर्म करता है, वैसा फल लगता है * ॥ ५ ॥

तदेष श्लोको भवति—तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे । इति नु कामयमानोऽथाकामयमानः—योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

इस विषय में यह श्लोक है—वहीं मन लगाए हुए अपने कर्म के साथ जाता है, जहां इसका लिङ्ग शरीर—मन, बन्धा हुआ है। और उस कर्म के अन्त (अन्तिम फल) को पाकर, जो कुछ वह यहां करता है, उस लोक से फिर इस लोक में आता है, कर्म करने के लिये। यह वह पुरुष है,जो कामना वाला है,अब कामना न करने वाला (कहते हैं)—जो कामनाओं से रहित है, जो कामनाओं से बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएं पूरी होगई हैं, या जिसको केवल आत्मा की कामना है, उसके प्राण (प्राण और इन्द्रिय) नहीं निकलते हैं (निकलकर दूसरा देह धारण करने को नहीं जाते हैं) वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुंचता है ॥ ६ ॥

तदेष श्लोको भवति—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इति । तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्य-

---

इसलिये यह केवल काममय ही है ॥ * पहली कण्डिका में मरने के पीछे जो भिन्न २ फल दिखलाए है, वह इसके अपने कर्मों का फल हैं, यह इस कण्डिका में सिद्ध किया है ॥

स्ता शयीत, एवमेवेदꣳशरीरꣳशेते । अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेजएव । 'सोऽहं भगवते सहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७ ॥

इस विषय में यह श्लोक है—"जो कामनाएं इसके हृदय में रहती हैं, जब वे सारी की सारी छूट जाती हैं, तब मर्त्य (मरने वाला, मनुष्य) अमृत होजाता है, और यहां वह ब्रह्म को प्राप्त होता है" और जैसे सांप की कैंचुली मरी हुई और फैंकदी हुई वर्मी (चींउटियों के बनाए हुए मट्टी के ढेर) पर पड़ी रहे, इसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है, और यह आत्मा शरीर से रहित अमृत प्राण (जीवन) ब्रह्म ही है, तेज (प्रकाश स्वरूप) है" जनक वैदेह ने कहा (इसके बदले) मैं भगवान् को हज़ार (गौएं) देता हूं * ॥ ७ ॥

तदेते श्लोका भवन्ति—'अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳस्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥८॥ तस्मिञ्छुक्ल मुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥९॥ अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपास्ते । ततो

---

* (प्रश्न) यहां मोक्ष का उपदेश कर दिया गया है, इसलिये अब इस के बदले में जनक को विदेहराज्य और अपना आप निवेदन करना चाहिये था न कि हजार गौएं ? उत्तर यह है कि यहां मनुष्य के जन्म मरण की व्यवस्था के सम्बन्ध में संसारी और मुक्त की मृत्यु का विशेष दिखलाया है । वास्तव में साधनों सहित ब्रह्म का उपदेश अभी शेष है, जो इससे आगे है । और (२३ कण्डिका में) जब उस अवस्था में याज्ञवल्क्य ने जनक को पहुंचा दिया है, तो जनक ने उस पूर्णज्ञान को पाकर विदेहराज्य और आत्माही निवेदन किया है॥

भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥१०॥ अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः । ताꣳस्ते प्रत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनः ॥ ११ ॥ आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य-कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१२॥ यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्न संदेह्ये गहने प्रविष्टः । स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव॥१३॥ इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः। ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति।१४। यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥ यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥१६॥ यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥१७॥प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्॥१८॥मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१९॥ एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः । ॥२०॥ तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनꣳहि तद्' इति ॥ २१ ॥

इस विषय में यह श्लोक * है—'सूक्ष्म, फैला हुआ † और पुराना रस्ता मुझे छुआ है, मैंने ढूंढ पाया है, उस (मार्ग) से ब्रह्म के जानने वाले धीर पुरुष विमुक्त हुए स्वर्ग लोक को जाते हैं और (तब) इससे भी ऊपर ‡ ॥ ८ ॥ कहते हैं कि इस मार्ग में या श्वेत, या नीला, या पीला, या हरा, या लाल है § यह मार्ग ब्रह्मा ॥ से ढूंढा गया है, इस (मार्ग) से वह जाता है, जो ब्रह्म का जानने वाला है, जिसने पुण्य कर्म किये हैं और जो तेजस्वी है ॥९॥ गाढ़ अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, जो (केवल) अविद्या का सेवन करते हैं, और वे मानों इससे भी बढ़कर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो (केवल) विद्या में रत (तत्पर) हैं ॥ ॥ १० ॥ अनजान, अज्ञानी इन लोकों में जाते हैं, जो सुख से खाली ** और गाढ़ अन्धेरे से ढपे हुए हैं ॥११॥ यदि पुरुष अपने आपको जानले कि 'मैं यह हूं' तो फिर क्या चाहता हुआ किस कामना के लिये शरीर के पीछे दुःखी हो †† ॥१२॥ इस खतरे वाले गहन (जङ्गल=संसार) में प्रविष्ट

---

* ये वचन स्वतन्त्र हैं, अथवा याज्ञवल्क्य द्वाराही उपदेश दियेगए हैं

† 'विततः, अणु' के विरुद्ध प्रतीत होता है, अभिप्राय यह है कि वह मार्ग यद्यपि सारे फैला हुआ है, परहै, सूक्ष्म, इसलिये उसका ढूंढ पाना कठिन है। अथवा विततः दूर तक फैला हुआ है, इस मार्ग पर चलने वाली की गति किसी लोक में भी रुक नहीं जाती, माध्यन्दिनपाठ 'विततः' की जगह 'वितरः' है अर्थात् पार लगाने वाला ॥

‡ ब्रह्मवेत्ता लोग (जीते हि) विमुक्त हुए इसके (शरीर गिरने के पीछे स्वर्गलोक अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं (शंकराचार्य), पर 'जो अर्थ ऊपर दिया गया है, उसके असली होने में माध्यन्दिनपाठ सहायक है'—'तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गलोक मितो विमुक्ताः' उस मार्ग से ब्रह्मवेत्ता धीर पुरुष यहां से छूटकर स्वर्गलोक को उलांघ कर जाते हैं अर्थात् यह मार्ग केवल स्वर्ग तक नहीं उससे परे भी है॥

§ ये नाड़ियों के रङ्ग है, जैसा पूर्व ४ । २ । २० में दिये हैं ॥

॥ वेदवेत्ता ब्राह्मण से, वा ब्रह्म से=वेद से ।॥ मिलाओ ईश० ९—११॥

** मिलाओ ईश० उप० ३; कठ० उप० १,३ ॥ †† शरीर के सन्ताप

हुआ आत्मा ढूंढ लिया है और समझ लिया है, वह विश्व कर्त्ता है, क्योंकि वह सब का बनाने वाला है * उसकी दुनिया है,वह अपने आप दुनिया है † ॥१३॥ यहां ही होते हुए हम उसको जानसक्ते हैं, और यदि मैं ज्ञान हीन रहा, ‡ तो एक भारी विनाश है । जो उसको जानते हैं,वे अमृत होते हैं,पर दूसरे दुःख ही अनुभव करते हैं ॥१४॥ जब मनुष्य इस दिव्य आत्मा को साफ तौर पर भूत भविष्यत् पर हकूमत करता हुआ देख लेता है, तो वह उससे मुख नहीं मोड़ता है §॥१५॥सोरे दिनों समेत बरस जिनसे वरे ही चक्र खाता है, उसको देवता उपासते हैं, जो ज्योतियों को ज्योति, आयु, अमर है॥१६॥ जिसमें पांच पञ्चजन ‖ और आकाश रहता है, मैं उसको आत्मा समझता हूं, मैं जो जानने वाला हूं (उसको) ब्रह्म (समझता हूं) मैं जो अमर हूं,उसको अमर (समझता हूं)॥१७॥ जो उसको प्राण का प्राण, आंख की आंख,कान का कान और मन का मन जानते हैं ¶ वे उसको पुराना, सब से पहला ब्रह्म जानते हैं ॥१८॥ मन से ही यह देखना चाहिये,** कि इसमें कुछ नानात्व नहीं है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस में

से आत्मा सन्तप्त होता है, क्योंकि वह अपने स्वरूप को उससे अलग नहीं समझता, जब वह अपने स्वरूप को अलग पहचान ले, तो फिर वह इसके सन्ताप से सन्तप्त नहीं होगा; माध्यन्दिन पाठ 'अनुसंज्वरेत्' की जगह 'अनुसंचरेत्' है । * अभिप्राय कृतकृत्य हो जाने से है।† शंकराचार्यने दुनिया से अभिप्राय यहां आत्मा लिया है

‡ 'अवेदिः' सन्दिग्ध सा शब्द है, शंकराचार्य के अनुसार अर्थ दे दिया है अर्थात् ज्ञानहीन § अक्षरार्थ घृणा नहीं करता है; तब वह किसी से डरता नहीं है, अथवा किसी की निन्दा नहीं करता है (शंकराचार्य) ‖ गन्धर्व, पितृ, देवता,असुर और राक्षस,या चार वर्ण और पांचवा निषाद, या प्राण, आंख, कान, अन्न और मन ॥ ¶ देखो—तल० उप० १ । २ ॥ ** देखो कौषी०उप० ४ । १८-२१ ॥

नानात्व सा देखता है ॥१९॥ इस अविनाशी और अप्रमेय (हस्ती) को एक ही प्रकार से देखना चाहिये, यह मल से रहित, आकाश से परे, जन्म रहित आत्मा महान् और अविनाशी है ॥२०॥ धीर ब्राह्मण उसी को जानकर प्रज्ञा (दानाई) * पैदा करे। बहुत शब्दों में न लगा रहे, क्योंकि वह वाणी का थकाना ही है॥२१॥

सवा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु, य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते। सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान्। एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय। तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते, 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा, उभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽ

* अर्थात् ज्ञान के साधन—त्याग, शान्ति, इन्द्रियों का निग्रह वैराग्य, तितिक्षा और चित्तकी एकाग्रताका अभ्यास करे (शंकराचार्य)

सितो न व्यथते न रिष्यति। एतमुहैवैते न तरत इत्यतः पाप मकरवमित्यतः कल्याणम करवमिति । उभे उ हैवैष एते तरति, नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥

और यह महान् जन्मरहित आत्मा, विज्ञानमय है प्राणों से घिरा हुआ, जो यह हृदय के अन्दर आकाश है, * उसमें आराम करता है, सब का वश करने वाला, सब पर हकूमत करने वाला, सब का अधिपति। वह न नेक कर्म से बड़ा होता है, न बुरे कर्म से छोटा होता है। यह सब का ईश्वर है, सब भूतों (प्राण धारियों) का अधिपति है, सब भूतों की रक्षा करने वाला है। यह एक अपने२ ठिकाने रखने वाला बन्द है, † इन लोकों की गड़बड़ को रोकने के लिये। इसको ब्राह्मण वेद पढ़ने से जानना चाहते हैं, तथा यज्ञ से, दान से, तप से, और न खाने से ‡ इसी को जानकर मनुष्य मुनि बनता है। केवल इसी लोक (ब्रह्म) को ही चाहते हुए परिव्राजक (संन्यासी) (घरों से) चले जाते हैं। इसी को जानते हुए, पूर्व विद्वानों ने (सन्तान की कामना न की) कहा,—' हम प्रजा से क्या करेंगे, जिनके पास यह आत्मा है यह लोक (ब्रह्म) है'। § और वे पुत्रों की इच्छा से, धन की इच्छा से, और नए लोकों की इच्छा से ऊपर उठकर भिक्षावृत्ति से घूमते फिरे। क्योंकि इच्छा जो पुत्र की है, वह धन की इच्छा है, और इच्छा जो धन की है, वह लोक की इच्छा है। ये दोनों निःसन्देह इच्छाएं ही होती हैं। और वह आत्मा जिसका वर्णन नेति नेति है ‖ वह ग्रहण करने योग्य नहीं, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता है; वह अटूट्य है, क्योंकि वह

---

* देखो—बृह० उप० ४।३।७॥ † देखो—छान्दो० उप० ८।४॥ ‡ अक्षरार्थ 'न खाने से' है। अभिप्राय इन्द्रियों को विषयों से रोकना है § देखो—बृह० उप० ३।५।१॥ ‖ देखो—बृ० उप० ३।९।२६; ४।२।४॥

तोड़ा नहीं जाता, वह असङ्ग है,क्योंकि वह किसी के साथ जुड़ता नहीं है;वह बन्धन रहित है,न वह पीड़ित होता है,न फिसलता है। (जो इस को जानता है) ये दोनों (ख्याल) उसको तर नहीं जाते (दबा नहीं लेते) कि इस कारण से मैंने यह बुराई की है, वा इस कारण से मैंने यह भलाई की है—हां यह आप इन दोनों को तर जाता है (ऊपर होजाता है)। और न ही, जो कुछ उस ने किया है वा जो कुछ उस ने नहीं किया है ये दोनों उसको तपाते हैं (उस पर असर डालते हैं) * ॥ २२॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदवित् तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन'इति। तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति, सर्वमात्मानं पश्यति, नैनं पाप्मा तरति,सर्वं पाप्मानं तरति । नैनं पाप्मा तपति; सर्वं पाप्मानं तपति । विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति । एष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसि' इति होवाच याज्ञवल्क्यः । 'सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि, मां चापि सह दास्याय' इति ॥ २३ ॥

सो यह ऋचा से कहा गया है—'यह (नेति नेति से वर्णित) ब्राह्मण की नित्य महिमा न (शुभ) कर्म से बड़ी होती है, न (पाप)

---

* जिसने अपना आत्मा जान लिया है, उसके पहले किये हुए भले बुरे कर्म उसको बन्धन में नहीं डालते किन्तु ज्ञानाग्नि से भस्म होजाते हैं, और इसी लिये जो कर्तव्य वह नहीं पालसका है, वह भी उसको नहीं तपाता है ॥

कर्म से छोटी होती है। मनुष्य को चाहिये कि उसी का खोजी बने, उसको खोजकर पाप से लिप्त नहीं होता है' ॥ इसलिये ऐसा जानने वाला (पुरुष) शान्त, दान्त, विरक्त, सहनशील और एकाग्र होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है, सब को आत्मा देखता है, पाप इसको तर नहीं जाता (दबा नहीं लेता) यह सब पापों को तरजाता है, पाप इसको नहीं तपाता है, यह सब पापों को तपाता है, पाप से रहित, मल से रहित, संशय से रहित (सच्चा) ब्राह्मण होता है, यह है ब्रह्मलोक, हे सम्राट्! तू इस (लोक) को पहुंचाया गया है'—इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा। (जनक ने कहा)'भगवन्! (इस के बदले) मैं आपको विदेह (देश) देता हूं, और अपने आपको भी साथ ही देता हूं, तुम्हारे दास भाव के लिये॥२३॥

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः। विन्दते वसु य एवं वेद ॥ २४ ॥ स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म, अभयं वै ब्रह्म, अभयꣳहि वै ब्रह्म भवति, य एवं वेद ॥ २५ ॥

यह * महान्, अजन्मा आत्मा, अन्न खाने वाला (मज़बूत) †, धन का दाता है, जो ऐसा जानता है, वह धन लाभ करता है॥२४॥ यह महान् अजन्मा आत्मा, अजर, अमर अमृत, अभय ब्रह्म है। ब्रह्म अभय है, और वह जो ऐसा जानता है, अभय ब्रह्म बनजाता है।२५।

पांचवा—ब्राह्मण ‡

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतु मैत्रेयी च का-

---

* पूर्व जनक और याज्ञवल्क्य की आख्यायिका में जिस का वर्णन हुआ है ॥ † सब प्राणियों में रहता है और हरएक खुराक २ खाता है, जो उनकी है (शंकराचार्य्य) ‡ इस ब्राह्मण की व्याख्या पूर्व २। ४ में लिख आये हैं, इसलिये यहां अर्थ मात्र ही लिखेंगे, सिवाय उन स्थलों के, जिन में विशेषता है ॥

त्यायनी च । तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव, स्त्री प्रज्ञैव तर्हि कात्यायनी । अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्त-मुपाकरिष्यन् ॥ १ ॥ मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः 'प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि, हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणि' इति ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियें थीं मैत्रेयी और कात्यायनी। उन में से मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, पर कात्यायनी केवल उतनी प्रज्ञा (दानाई) वाली थी जितनी (साधारण) स्त्रियों की होती है। अब याज्ञवल्क्य ने जब (जीवन की) दूसरी अवस्था को आरम्भ करना चाहा (जब उस ने गृहस्थ को छोड़कर वन में जाना चाहा) ॥ १ ॥ तो याज्ञवल्क्य ने कहा—'हे मैत्रेयि! मैं इस स्थान से जाने वाला हूं (जङ्गल की ओर)' अहो तेरा अब इस कात्यायनी के साथ फैसला कर जाउं ॥ २ ॥

साहोवाचमैत्रेयी—'यन्नु म इयं भगोः! सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्, स्यां तेनामृताऽऽहो३नेति । नेति होवाच याज्ञवल्क्यो 'यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳस्यादमृतत्त्वस्य तु नाशास्तिऽस्ति वित्तेन' इति ॥३॥ साहोवाच मैत्रेयी—'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या, यदेव भगवान् वेद, * तदेव मे ब्रूहि' इति॥४॥स होवाच याज्ञवल्क्यः—'प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्,हन्त तर्हिभवत्येतद् व्याख्यास्यामिते,व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व' इति॥

---

* "भगवान् वेद" की जगह "भगवन् वेत्थ" यह पाठान्तर भी है॥

मैत्रेयी ने कहा—'हे भगवन् ! यदि यह सारी पृथिवी धन से भरी हुई मेरे लिये हो, तो क्या मैं उससे अमर होजाऊंगी, वा नहीं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—'नहीं, जैसे अमीर लोगों का जीवन होता है, वैसे तेरा जीवन होगा। पर अमर होने की तो धन से कोई आशा नहीं है ॥३॥ मैत्रेयी ने कहा—'जिस से मैं अमर नहीं हूंगी, उससे क्या करूंगी ? जो कुछ भगवान् (अमर होने के विषय में) जानते हैं, वही मुझे बतलाएं ॥ ४ ॥ याज्ञवल्क्य ने कहा—' तुम हमारी प्यारी होकर प्रिय बढ़ाया है * अहो भवति ? मैं तेरे लिये इस की व्याख्या करूंगा, और तू जो मैं व्याख्यान करता हूं, उस पर पूरा २ ध्यान दे ॥ ५ ॥

सहोवाच—'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः

* अर्थात् तूने वह बात पूछी है,जो मुझे प्यारी है,क्योंकि इस में तुम्हारा कल्याण है; माध्यन्दिनपाठ 'भवृधत्' की जगह 'अवृतत्' है

प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इद᳭सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

उसने कहा—' हे मैत्रेयि ! पति की कामना के लिये पति प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये पति प्यारा होता है। हे मैत्रेयि ! पत्नी की कामना के लिये पत्नी प्यारी नहीं होती, किन्तु आत्मा की कामना के लिये पत्नी प्यारी होती है। हे मैत्रेयि! पुत्रों की कामना के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये पुत्र प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! धन की कामना के लिये धन प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये धन प्यारा होता है। हे मैत्रेयि ! पशुओं की कामना के लिये पशु प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये पशु प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! ब्रह्म (ब्राह्मणत्व) की कामना के लिये ब्रह्म प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये ब्रह्म प्यारा होता है। हे मैत्रेयि ! क्षत्र (क्षत्रियत्व) की कामना के लिये क्षत्र प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये क्षत्र प्यारा होता है। हे

मैत्रेयि ! लोकों की कामना के लिये लोक प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये लोक प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! देवताओं की कामना के लिये देवता प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये देवता प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! वेदों की कामना के लिये वेद प्यारे नहीं होते,किन्तु आत्मा की कामना के लिये वेद प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! भूतों की कामना के लिये भूत प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये भूत प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! हरएक वस्तु की कामना के लिये हरएक वस्तु प्यारी नहीं होती, किन्तु आत्मा की कामना के लिये हरएक वस्तु प्यारी होती है। निःसन्देह हे मैत्रेयि ! आत्मा साक्षात् देखने योग्य है, (शास्त्र से) सुनने योग्य है, (युक्ति से) मनन करने योग्य है,और (समाधि में) निदिध्यासन करने (ध्यान देने) योग्य है। हे मैत्रेयि! जब आत्मा को साक्षात् देख लिया, सुन लिया, मनन कर लिया और जान लिया, तब यह सब कुछ जान लिया है ॥ ६ ॥

ब्रह्म तं परादाद्, योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद। क्षत्रं तं परादाद्,योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद। लोकास्तं परादुः, योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद।देवास्तं परादुः,योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद। भूतानि तं परादुः, योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद। सर्वं तं परादाद्,योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। इदं ब्रह्म, इदं क्षत्रम्, इमे लोकाः, इमे देवाः, इमे वेदाः, इमानि भूतानि, इदं सर्वम्, यदयमात्मा॥७॥ स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः॥

ब्राह्मणत्व उसको परे हटा देता है,जो आत्मा से अन्यत्र (किसी

दूसरे के आश्रय) ब्राह्मणत्व को जानता है। क्षत्रियत्व उसको परे हटा देता है, जो आत्मा से अन्यत्र क्षत्रियत्व को जानता है। लोक उसको परे हटा देते हैं, जो आत्मा से अन्यत्र लोकों को जानता है,देवता उसको परे हटा देते हैं,जो आत्मा से अन्यत्र देवताओं को जानता है। वेद उसको परे हटा देते हैं। जो आत्मा से अन्यत्र वेदों को जानता है,प्राणधारी उसको परा हटा देते हैं,जो आत्मा से अन्यत्र प्राणधारियों को जानता है। हरएक वस्तु उसको परे हटा देती है, जो आत्मा से अन्यत्र हर एक वस्तु को जानता है। यह ब्राह्मणत्व, यह क्षत्रियत्व, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये प्राणधारी, यह हर एक वस्तु, यही है, जो यह आत्मा है* ॥७॥ जैसे दुन्दुभि जब ताड़ी जारही है, तो उसके बाहरले शब्दों को नहीं पकड़ सके †, पर दुन्दुभि के पकड़ने से वा दुन्दुभि के ताड़ने वाले के पकड़ने से (दुन्दुभिका हरएक) शब्द पकड़ा जाता है ॥८॥

स यथा शंखस्य ध्मयायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय,शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥९॥ स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय,वीणायै तु ग्रहणेन वाणीवादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥ स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति,एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्,यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्ट ‍७०

* यह सारे आत्मा के आश्रय है,उसी में अपनी सत्ता दिखलाते हैं॥ † अक्षरार्थ—कोई नहीं पकड़ सके॥

हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥ ११ ॥

और जैसे शंख जब पूरा जारहा है, तो उसके बाहरले शब्दों को नहीं पकड़ सक्ते, पर शंख के पकड़ने से वा शंख को पूरने वाले के पकड़ने से शब्द पकड़ा जाता है ॥९॥ और जैसे वीणा जब बजाई जारही है, तो उसके बाहरले शब्दों को नहीं पकड़ सक्ते, पर वीणा के पकड़ने से वा वीणा बजाने वाले के पकड़ने से शब्द पकड़ा जाता है ॥१०॥ जैसा गीली लकड़ियों की आग जब जलरही हो, तो उस से अलग धुएं निकलते हैं, इसी प्रकार इस बड़ी सत्ता का यह बाहर सांस लिया हुआ है, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्याएं, उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यज्ञ की वस्तु, होम की वस्तु, खाने की वस्तु, पीने की वस्तु, यह लोक और दूसरा लोक और हर एक प्राणी, ये सब इसी के ही बाहर सांस लिये हुए हैं ॥ ११ ॥

स यथा सर्वासामपाᳬसमुद्र एकायनम्, एवᳬसर्वेषांᳬस्पर्शानां त्वगेकायनम्, एवᳬसर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनम्, एवᳬसर्वेषांᳬरसानां जिह्वैकायनम्, एवᳬसर्वेषाᳬरूपाणां चक्षुरेकायनम्, एवᳬसर्वेषाᳬशब्दानाᳬश्रोत्रमेकायनम्, एवᳬसर्वेषाᳬसंकल्पानां मन एकायनम्, एवं सर्वासां विद्यानाᳬहृदय मेकायनम्, एवᳬसर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनम्, एवᳬसर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्, एवᳬसर्वेषा विस-

गीणां पायुरेकायनम्, एव॒ᳫ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनम्, एव॒ᳫ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥१२॥

जैसे सारे जलों का, समुद्र एक आश्रय है, (एक गति है, सारे जल समुद्र की ओर जाते हैं.); इसी प्रकार सारे स्पर्शों का त्वचा एक आश्रय है,इसी प्रकार सारे गन्धों का नासिकाएं एक आश्रय हैं, इसी प्रकार सारे रसों का जिह्वा एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे रूपों का आंख एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे संकल्पों का मन एक आश्रय है,इसी प्रकार सारी विद्याओं का हृदय एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे कर्मों का हाथ एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे आनन्दों का उपस्थ एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे (मल) सर्गों का गुदा एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे मार्गों (हरएक बाट) का पाओं एक आश्रय हैं, इसी प्रकार सारे वेदों का वाणी एक आश्रय है ॥ १२ ॥

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति । न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमि' इतिहोवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥

जैसे लवण का ढेला, न उसके कुछ अन्दर है, न बाहर है, किन्तु यह सारा इकट्ठा एक रस का ढेला ही है, इसी प्रकार हे मैत्रेयि ! यह आत्मा है,न कुछ इसके अन्दर है, न बाहर है, यह सम्पूर्ण एक विज्ञानघन (विज्ञान का ढेला) ही है;यह इन (महा) भूतों से उठकर (प्रगट होकर) इन्हीं में छिप जाता है * मरने

* अभिप्राय यह है, जैसे परदे से निकल कर नट अपना खेल खेलकर फिर परदे में छिप जाता है, इसी तरह यह आत्मा फिर अपने परदे में छिप जाता है ॥

के पीछे कोई पता (नाम, निशान) नहीं है, यह मैं कहता हूं, हे मैत्रेयि ! इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा ॥ १३ ॥

साहोवाच मैत्रेयी—'अत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपिपन्, न वा अहमिदं विजानामि' इति। स होवाच—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीमि, अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥ १४ ॥

तब मैत्रेयी ने कहा—'भगवन् ! यहां ही मुझे आपने घबराहट में डाल दिया है, मैं निःसन्देह इसको नहीं समझी'॥ उसने कहा—'हे मैत्रेयि ! मैं निःसन्देह घबराहट की बात नहीं कहता हूं; आत्मा अविनाशी है, न उखड़ना (नष्ट न होना) इसका स्वभाव है*॥१४॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरꣳरसयते, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरꣳशृणोति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरꣳस्पृशति, तदितर इतरं विजानाति; यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं जिघ्रेत्, तत् केनकꣳरसयेत, तत्केन कमभिवदेत्, तत्केनकꣳशृणुयात्, तत्केन कं मन्वीत, तत्केनकꣳस्पृशेत्, तत्केन कं विजानीयाद्, येनेदꣳसर्वं विजानाति, तं केन विजानीयात्। स एष नेतिनेत्यात्माऽ

* 'मरने के पीछे कोई पता नहीं है' इस वचन को सुनकर मैत्रेयी को यह भ्रम होगया था, कि क्या याज्ञवल्क्य का यह अभिप्राय तो नहीं, कि आत्मा सर्वथा नष्ट होजाता है? सो इसलिये उसने यह बात याज्ञवल्क्य से स्पष्ट कराली; कि आत्मा कभी नष्ट नहीं होता है ॥

गृह्यो नहि गृह्यते,अशीर्यो नहि शीर्यते, असङ्गो नहि सज्यते, असितो न व्यथते न रिष्यति । विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्,इत्युक्ताऽनुशासनाऽसि मैत्रेयि! एतावदेर खल्वमृतत्वम्'इतिहोक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार

क्योंकि जहां द्वैतसा होता है, वहां दूसरा दूसरे को देखता है, वहां दूसरा दूसरे को सूंघता है,वहां दूसरा दूसरे को चखता है, वहां दूसरा दूसरे से बोलता है, वहां दूसरा दूसरे की सुनता है, वहां दूसरा दूसरे को समझता है,वहां दूसरा दूसरे को छूता है,वहां दूसरा दूसरे को जानता है, पर जब यह सब आत्मा ही होगया,तो किससे किसको देखे, किससे किसको सूंघे, किससे किसको चखे, किससे किसको बुलाए, किससे किसको सुने, किससे किस को समझे,किससे किसको छुए, किस से किसको जाने ? जिस से इस सब को जानता है, उस को किस से जाने ? यह आत्मा जिस का वर्णन नेति नेति* है । वह पकड़ने योग्य नहीं क्योंकि वह पकड़ा नहीं जाता;वह अटूट्य है,क्योंकि वह तोड़ा नहीं जाता; वह असङ्ग है, क्योंकि वह किसी के साथ जुड़ता नहीं, वह बन्धन रहित है, न वह पीड़ित होता है, न फिसलता है । हे (प्रिये) जानने वाले को किससे जाने ? बस हे मैत्रेयि ! तुझे शिक्षा पूरी देदी है,इतना ही हे प्रिये ! अमृतत्व है' यह कहकर याज्ञवल्क्य (जङ्गल को) चलागया

छटा—ब्राह्मण ॥

अथ वंशः—पौतिमाष्यो गौपवनाद, गौपवनः पौतिमाष्यात्, पौतिमाष्यो गौपवनाद, गौपवनः कौशिकात्, कौशिकः कौण्डिन्यात्,कौण्डिन्यः शाण्डि-

* देखो—बृह० उप० ३।९।२६; ४।२।४; ४।४।२२॥

ल्यात्,शाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च;गौतमः॥१॥
आग्निवेश्याद्,आग्निवेश्यो गार्ग्याद्,गार्ग्यो गार्ग्याद्,
गार्ग्यो गौतमाद्, गौतमः सैतवात्,सैतवः पाराश-
र्यणात्, पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्, गार्ग्यायण
उद्दालकायनाद्, उद्दालकायनो जाबालायनाद्,
जाबालायनो माध्यन्दिनायनाद्, माध्यन्दिनायनः
सौकरायणात्, सौकरायणः काषायणात्, काषायणः
सायकायनात्,सायकायनः कौशिकायनेः,कौशिका-
यनिः ॥२॥ घृतकौशिकाद्,घृतकौशिकः पाराशर्या-
यणात्, पाराशर्यायणः पाराशर्यात्,पाराशर्यो जातू-
कर्ण्याद्,जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्च,आसुरा-
यणस्त्रैवणेः, त्रैवणि रौपजन्धनेः,औपजन्धनिरासुरेः,
आसुरि भारद्वाजाद्, भारद्वाज आत्रेयाद्, आत्रेयो
माण्टेः, माण्टि गौतमाद्, गौतमो वात्स्याद्, वात्स्यः
शाण्डिल्यात्,शाण्डिल्यः कैशोर्यात् काप्यात्,कैशोर्यः
काप्यः कुमारहारितात्, कुमारहारितो गालवाद्,गाल-
वो विदर्भी-कौण्डिन्याद ;विदर्भी कौण्डिन्यो वत्सन-
पातो बाभ्रवाद्, वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्,
पन्थाः सौभरोऽयास्यादांगिरसाद्, अयास्य आंगिरस
आभूतेस्त्वाष्ट्राद्, आभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात् त्वा-
ष्ट्राद्, विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्याम्, अश्विनौ दधीच

आथर्वणाद्, दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवाद्, अथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनाद्, मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्, प्रध्वꣳसन एकर्षेः, एकर्षिर्विप्रचित्तेः,विप्रचित्तिर्व्यष्टेः, व्यष्टिः सनारोः, सनारुः सनातनात्, सनातनः सनगात्,सनगः परमेष्ठिनः,परमेष्ठी ब्रह्मणः, ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

अब वंश* (कहते हैं)—(१) पौतिमाष्यने गोपवन से (सीखा) (२) गौपवन ने पौतिमाष्य से, (३) पौतिमाष्य ने गौपवन से, (४) गौपवन ने कौशिक से, (५) कौशिक ने कौण्डिन्य से,(६) कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, (७) शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम से, (८) गौतम ने ॥१॥ आग्निवेश्य से, (९) आग्निवेश्य ने गार्ग्य से, (१०) गार्ग्य ने गार्ग्य से, (११) गार्ग्य ने गौतम से, (१२) गौतम ने सैतव से, (१३) सैतव ने पाराशर्यायण से,(१४) पाराशर्यायण ने गार्ग्यायण से,(१५)गार्ग्यायण ने उद्दालकायन से, (१६)उद्दालकायन ने जाबालायन से, (१७) जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, (१८) माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, (२१) सौकरायण ने काषायण से, (२०) काषायण ने सायकायन से (२१) सायकायन ने कौशिकायनि से, (२२) कौशिकायनि ने ॥२॥ घृतकौशिक से, (२३) घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, (२४) पाराशर्यायण ने

* गुरु शिष्य की परम्परा का वंश अर्थात् जिस क्रम से याज्ञवल्क्य काण्ड ऊपर से उपनिषत्कार तक पहुंचा है ॥ १—९ तक का वंश बृह० उप० २ । ६ के साथ मिलता है । फिर २१ वें वंश में कथित कौशिकायनि से आरम्भ करके सारा उसके साथ मिलता है ॥

माध्यन्दिन पाठ में सब से पहले 'वयम्' हम, है अर्थात् हमने पौतिमाष्य से पढ़ा । माध्यन्दिन वंश में कुछ नामों का भेद भी है ॥

पाराशर्य से, (२५) पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, (२६) जातूकर्ण्य ने आसुरायण से और यास्क से, (२७) आसुरायण ने त्रैवणि से (२८) त्रैवणि ने औपजन्धनि से, (२९) औपजन्धनि ने आसुरि से, (३०) आसुरि ने भारद्वाज से, (३१) भारद्वाज ने आत्रेय से, (३२) आत्रेय ने माण्टि से, (३३) माण्टि ने गौतम से,(३४) गौतम ने गौतम से, (३५) गौतम ने वात्स्य से, (३६) वात्स्य ने शाण्डिल्य से, (३७) शाण्डिल्य ने कैशोर्य-काप्य से, (३८) कैशोर्य-काप्य ने कुमारहारित से, (३९) कुमारहारित ने गालव से, (४०) गालव ने विदर्भी-कौण्डिन्य से,(४१)विदर्भी-कौण्डिन्य ने वत्सनपात्-बाभ्रव से, (४२) वत्सनपात्-बाभ्रव ने पथि-सौभर से,(४३)पथि-सौभर ने अयास्य आङ्गिरस से,(४४)अयास्य आङ्गिरस ने आभूति-त्वाष्ट्र से, (४५) आभूति-त्वाष्ट्र ने विश्वरूप-त्वाष्ट्र से, (४६) विश्वरूप-त्वाष्ट्र ने अश्वियों से, (४७) अश्वियों ने दध्यङ्-आथर्वण से, (४८) दध्यङ् आथर्वण ने अथर्वा-दैव से,(४९) अथर्वा-दैव ने मृत्यु-प्राध्वंसन से, मृत्यु-प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, (५१) प्रध्वंसन ने एकर्षि से, (५२) एकर्षि ने विप्रचित्ति से,(५३) विप्रचित्ति ने व्यष्टि से,(५४) व्यष्टि ने सनारु से, (५५) सनारु ने सनातन से, (५६) सनातन ने सनग से, (५७) सनग ने परमेष्ठी से, (५८) परमेष्ठी ने ब्रह्म से, (५९) ब्रह्म स्वयम्भु (अपने आप हस्ती) है ब्रह्म को नमस्कार है ॥३॥

पांचवां अध्याय—पहला ब्राह्मण ॥

संगति—पहले चार अध्यायों में ब्रह्मविद्या पूर्ण कहदी है। अब यह खिल काण्ड आरम्भ होता है। इस में पूर्व न कही हुई उपासनाएं और ब्रह्म प्राप्ति के भिन्न २ प्रकार के साधन वर्णन किये हैं:—

ओं पूर्ण मदः पूर्ण मिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ॥

ओं खं ब्रह्म। खं पुराणं,वायुरं ख मिति ह स्माऽऽह कौर-व्याणी-पुत्रः।वेदोऽऽयंब्राह्मणाविदुः।वेदैनेनयद्वेदितव्यं

पूर्ण * है वह (ब्रह्म), पूर्ण है यह (जगत्), पूर्ण से पूर्ण निकलता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही बाकी रहता है †॥ ओम् आकाश ब्रह्म है। आकाश यहां वह है, जो पुराना (सनातन) है, 'आकाश वह है जो यह वायु वाला है' यह कौरव्याणी के पुत्र ने कहा ‡। यह (ओम्) वेद है, ऐसा ब्रह्मवादी जानते हैं। (क्योंकि) मनुष्य इस (ओम्) से जान लेता है, जो कुछ जानने योग्य है ॥ १ ॥

दूसरा ब्राह्मण।

त्रयःप्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य मूषुर्देवा मनुष्या असुराः। उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुः 'ब्रवीतु नो भवान्' इति। तेभ्यो ह तदक्षरमुवाच 'द' इति। 'व्यज्ञासिष्टा३'इति। 'व्यज्ञासिष्म' इति होचुः। 'दाम्यतेति न आत्थ'इति। ओमिति होवाच'व्यज्ञासिष्ट'इति

तीन प्रकार की प्रजापति की सन्तान—देवता,मनुष्य और

---

* जिसमें कोई कमी नहीं ॥ † जो आप पूर्ण है, उसकी रचना में त्रुटी नहीं होती। और यह मनुष्य जब उस पूर्ण की पूर्णता का सहारा लेता है, तो इस में की भी सारी त्रुटियें दूर होजाती हैं और यह पूर्ण ही बाकी रहता है। यह और'ओं खं ब्रह्म' ये दोनों मन्त्र हैं

‡ ओम, ख, और ब्रह्म ये तीनों परमात्मा के नाम हैं। ओम और ब्रह्म ये दोनों तो निर्विवाद ब्रह्म के नाम हैं। और ख को भी आचार्यों ने पुराण पुरुष परमात्मा का नाम माना है। कौरव्यायणी पुत्र 'ख' का अर्थ आकाश लेता है। तब अभिप्राय यह होगा। आकाशवत् व्यापक ब्रह्म ॥

असुर, अपने पिता प्रजापति के पास ब्रह्मचारी बन कर रहे। ब्रह्मचर्य वास करने के पीछे देवताओं ने कहा—'आप हमें उपदेश दें, उनको (प्रजापति ने) यह अक्षर बतलाया 'द' (और कहा) 'तुमने जान लिया' उन्होंने कहा, 'हां जान लिया, आपने हमें यह बतलाया है कि 'दाम्यत'=अपने आप को वश में रक्खो। उसने कहा—हां ठीक तुम ने जान लिया है ॥ १ ॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुः—'ब्रवीतु नो भवान्'इति। तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच 'द' इति। 'व्यज्ञासिष्टा३' इति। 'व्यज्ञासिष्म' इति होचुः। 'दत्तेति न आत्थ' इति। 'ओमिति' होवाच 'व्यज्ञासिष्ट' इति ॥ २ ॥

अब इसको मनुष्यों ने कहा—'आप हमें उपदेश दें'। उनको उसने यह अक्षर बतलाया 'द' (और कहा) 'तुमने जान लिया'। उन्होंने कहा—'हां जान लिया। आपने हमें यह बतलाया है, दत्त=दो। उसने कहा हां 'तुमने जान लिया है' ॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुः—'ब्रवीतु नो भवान्' इति। तेभ्यो-हैतदक्षरमुवाच 'द' इति। 'व्यज्ञासिष्टा३'इति। 'व्यज्ञासिष्म' इति होचुः। दयध्वमिति'न आत्थ'इति। ओमितिहोवाच 'व्यज्ञासिष्ट'इति। तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुः'द द द' इति। दाम्यत,दत्त,दयध्वमिति। तदेतत त्रयं शिक्षेद दमं दानं दयामिति॥३॥

अब उसे असुरों ने कहा—'आप हमें उपदेश दें। उन को उसने यह अक्षर बतलाया 'द' (और कहा) 'तुमने जान लिया' उन्होंने कहा'हां जानलिया,आपने हमें कहा है दया करो'(दयध्वम्)

उसने कहा 'हां तुमने जान लिया है ॥ यही (प्रजापति का शासन) यह गर्जते हुए मेघ की दैवी वाणी अनुवाद करती है, 'द द द' अर्थात् अपने आपको बस में रक्खो, दो और दया करो । इस लिये(पिता पुत्र को,वा गुरु ब्रह्मचारी को) ये तीनों बातें सिखाए, दम (अपने आप को वश में रखना) दान और दया * ॥ ३ ॥

तीसरा ब्राह्मण

एष प्रजापतिर्यद् हृदयम्,एतद् ब्रह्म,एतत् सर्वम् तदेतत्त्र्यक्षरꣳहृदयमिति ! हृइत्येकमक्षरम्, अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद। दइत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद । यमित्येकमक्षरम्, एति स्वर्गलोकं, य एवं वेद ॥ १ ॥

यह प्रजापति है, जो हृदय है। यह ब्रह्म (की प्राप्ति का साधन) है, यह सब कुछ है। सो यह तीन अक्षरों वाला है। हृ-द-य। 'हृ' यह एक अक्षर है। जो इस (अक्षर के रहस्य) को जानता है, उस की ओर अपने और बेगाने सब भेंटा लाते हैं। 'द' यह एक अक्षर है, जो इस को जानता है, उस को अपने और बेगाने देते हैं। 'य' यह एक अक्षर है जो इस को जानता है, वह स्वर्गलोक को जाता है † ॥ १ ॥

चौथा ब्राह्मण

तद्वै तदेतदेव तदास,सत्यमेव। स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति। जयतीमाँल्लोकाञ्जित

---

* ये तीनों साधन सब उपासनाओं का अङ्ग हैं । इसलिये उपासनाओं के आदि में दिखला दिये हैं ॥

† हृदय, 'हृ, दा और इण' इन धातुओं के हृ+द+य अक्षरों के मेल से बना है। ऐसा जानकर हृदय की उपासना करने वाले को

इन्न्वसावसद, य एव मेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति । सत्यं ह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

यह (हृदय) निःसन्देह वही है, जो यह सत्य * (ब्रह्म) है। और जो इस बड़े, पूजनीय (हस्ती), और सब से पहले प्रगट होने वाले को सत्य ब्रह्म के तौर पर जानता है, वह इन लोकों को जीतता है,और वह(शत्रु)भी उसका इसी प्रकार जीता हुआ है,† जो इस प्रकार इस बड़े पूजनीय और पहले प्रगट होने वाले को सत्य ब्रह्म के तौर पर जानता है; क्योंकि ब्रह्म सत्य है ॥ १ ॥

पांचवां ब्राह्मण

आप एवेद मग्र आसुः । ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म । ब्रह्म प्रजापतिं,प्रजापति र्देवान् । ते देवाः सत्यमेवोपासते । तदेतत्त्र्यक्षरꣳसत्यमिति । स इत्येकमक्षरं । तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं।प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं । तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳसत्य-

---

यह तीन फल अलग २ धातुओं के सहारे दिखलाए हैं—अभि हरन्ति=भेंट लाते हैं, ददति=देते हैं और एति=जाता है ॥

हृदय के पक्ष में अपने अर्थात् इन्द्रिय और बेगाने अर्थात् शब्द आदि विषय हैं । ये अपना२कार्य्य हृदय को भेंट करते हैं और अपना २ बल हृदय को देते हैं । हृदय आगे आत्मा को देता है(शङ्कराचार्य)

* सत्य=असली हस्ती, न कि सचाई । शंकराचार्य्य ने यहां सत्य से वही अभिप्राय लिया है जो २ । ३ । १ में वर्णन है अर्थात् सत्+त्य=मूर्त अमूर्त रूप पांच भूत जानना चाहिये ॥

† जो लोकों को जीत लेता है, शत्रु तो उसके वश में जानना चाहिये;शंकराचार्य्य ने यहां 'यथा ब्राह्मणोऽसौ शत्रुः'यह वाक्य शेष करके'इन्नु=इत्थं'के साथ सम्बन्ध दिया है । पर वस्तुतःयहां य एवं के साथ सम्बन्ध होने से वाक्य शेष की आवश्यकता नहीं रहती

भूयमेव भवति। नैवं विद्वाꣳस मनृतꣳहिनस्ति ॥ १ ॥

आरम्भ में यह (जगत) जल (महत् तत्त्व) ही था। उन जलों ने सत्य * को प्रगट किया और सत्य ब्रह्म है। ब्रह्म ने प्रजापति (विराट्) को, और प्रजापति ने देवताओं को (प्रगट किया)। वे देवता केवल सत्य को उपासते हैं। यह जो "सत्य" है। इसके तीन अक्षर हैं (स+ति+य) †। 'स' यह एक अक्षर है 'ति' यह एक अक्षर है और 'य' यह एक अक्षर है। पहला और अन्त का अक्षर सत्य हैं। मध्य का अनृत (झूठ) है ‡। सो यह अनृत (झूठ) दोनों ओर से सत्य से घिरा हुआ सत्य प्राय ही होता है। ऐसा जानने वाले को झूठ हिंसा नहीं करता ॥ १ ॥

तद् यत्तत्सत्यम्, असौ स आदित्यः,य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ, रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः,प्राणैरयममुष्मिन्।सयदोत्क्रामिष्यन् भवति, शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति। नैन मेते रश्मयःप्रत्यायन्ति

---

* प्रथमज हिरण्यगर्भ ॥ † संयोगान्त य से पूर्व इ और व से पूर्व उ उच्चारण करते हैं। इस रीति से सत्यं यह 'स-ति-यम्' इस प्रकार तीन अक्षर के तौर पर उच्चारण किया है। देखो छान्दोग्य उप० ८।३।५। तै० उप० २।६। शंकराचार्य दूसरे, को केवल 'त्' मानकर उसके आगे 'इ' को अनुबन्ध मानते हैं ॥

‡ शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या इस तरह की है। मध्य का अक्षर 'त्' तो मृत्यु और अनृत में पाया जाता है इसलिये वह अनृत है। 'स्' और 'य' मृत्यु शब्द में नहीं पाए जाते, इसलिये ये सत्य हैं। द्विवेदगङ्ग ने 'स+ति+यम्' ये तीन अक्षर रखकर लिखा है कि 'स्' और 'यम' का तो कोई अक्षर मृत्यु वा अनृत के साथ सांझा नहीं और 'ति' का 'त' मृत्यु और अनृत के साथ सांझा है ॥

यह जो सत्य है, यही वह आदित्य है, जो यह इस मण्डल (गोले) में पुरुष है, और जो यह दाईं आंख में पुरुष है। ये दोनों एक दूसरे में रहते हैं। यह (सूर्य) अपनी किरणों के द्वारा इसमें (अक्षिपुरुष में) रहता है, और यह (अक्षिपुरुष) प्राणों (इन्द्रियों)के द्वारा उसमें (रहता है)। जब यह (इस शरीर से) निकलने को होता है, तब वह केवल शुद्ध (किरणों से खाली) ही मण्डल को देखता है। ये रश्मियें इसके पास वापिस नहीं आती हैं ॥ २ ॥

य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, तस्य भूरिति शिरः, एकꣳ शिर एकमेतदक्षरम्; भुव इति बाहू, द्वौ बाहू, द्वे एते अक्षरे; स्वरिति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे, द्वे एते अक्षरे। तस्योपनिषदहरिति, हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ३ ॥

अब जो यह इस मण्डल में पुरुष है, भूः उसका सिर है, क्योंकि सिर एक है और यह अक्षर एक है; भुवः उसकी भुजाएं हैं, क्योंकि भुजाएं दो हैं, और यह अक्षर दो हैं, स्वः * ये पाओं हैं, क्योंकि पाओं दो हैं, और यह अक्षर दो हैं। उसकी उपनिषद् (गुप्त नाम) अहः (दिन) है, जो ऐसा जानता है, वह बुराई को नष्ट करता है (हन्ति) और छोड़ता है (जहाति) † ॥ ३ ॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तस्य भूरिति शिरः, एकꣳ शिर एकमेतदक्षरम्; भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे, स्वरिति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे, द्वे एते अक्षरे। तस्योपनिषदहमिति, हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४ ॥

जो यह दाईं आंख में पुरुष है, भूः उसका सिर है; क्योंकि

---

* स्वः को सुवः उच्चारण करते हैं (देखो पृष्ठ २१६ का नोट) † हन् (हन्ति) और ओहाक् (जहाति) से 'अहः' मानकर ये दोनों फल दर्शाए हैं

सिर एक है, और यह अक्षर एक है; भुवः भुजाएं हैं, क्योंकि भुजाएं दो हैं,और ये अक्षर दो हैं। स्वः ये पाओं हैं, क्योंकि पाओं दो हैं और ये अक्षर दो हैं। उसकी उपनिषद (गुप्त नाम) अहम् (मैं) हैं। जो ऐसा जानता है वह बुराई को नष्ट करता है और छोड़ता है॥४

छटा ब्राह्मण।

मनोमयोऽयं पुरुषः भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा। स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥ १ ॥

मनोमय (मन का अधिष्ठाता) यह पुरुष प्रकाशस्वरूप *हृदय के अन्दर धान वा जौ की नाईं (छोटा सा)है। यह सब पर ईशन करने वाला सब का अधिपति है—वह उस सब पर ईशन करता है, जो कुछ यह है ॥ १ ॥

सातवां ब्राह्मण।

विद्युद् ब्रह्मेत्याहुः—विदानाद्विद्युद्। विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति। विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

कहते हैं विद्युत (बिजली) ब्रह्म है, विद्युत काटने से है †। जो ऐसा जानता है कि विद्युत ब्रह्म है, वह इसको (आत्मा को) बुराई से काट देता है। क्योंकि विद्युत निःसन्देह ब्रह्म है ॥ १ ॥

आठवां ब्राह्मण।

वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारःस्तनाःस्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारःस्वधाकारः। तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उप-

---

* "भाः सत्यः" एक पद है भाः सत्यः सद्भावः स्वरूपं यस्य सः भास्वर इत्येतत् ॥ † दो अवखण्डने=काटने, से विद्युत है; विद्युत मेघों के अन्धकार को काट देती है जैसाकि ब्रह्म जब जाना जाता है, तो अविद्या के अन्धकार को काट देता है ॥

जीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च;हन्तकारं मनुष्याः; स्वधाकारं पितरः। तस्याःप्राण ऋषभो मनो वत्सः॥१॥

वाणी को धेनु (गौ) के तौर पर उपासना चाहिये। उसके चार स्तन हैं स्वाहा, वषट्, हन्त और स्वधा। देवता उसके स्वाहा, और वषट्, इन दो स्तनों पर जीविका करते हैं; मनुष्य हन्त पर; और पितर स्वधा पर *। प्राण उस(गौ)का सांड है और मन बछड़ा है॥१॥

नवां ब्राह्मण।

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते। तस्यैष घोषो भवति, यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति। स यदोत्क्रमिष्यन् भवति, नैनं घोषꣳ शृणोति

वैश्वानर अग्नि यह है जो यह पुरुष के अन्दर है, जिससे यह अन्न पकता है (=जीर्ण होता है) जो यह खाया जाता है। उसकी ध्वनि (आवाज़) यह है, जिसको कान बन्द करके मनुष्य सुनता है। जब (मनुष्य इस देह से) निकलने को तय्यार होता है, तब वह इस ध्वनि को नहीं सुनता है॥ १॥

दसवां ब्राह्मण।

सं०—पूर्व कही सब उपासनाओं की गति और फल दिखलाते हैं:—

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति, स वायुमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा रथचक्रस्य खं, तेन स ऊर्ध्व आक्रमते। स आदित्यमागच्छति। तस्मै स

---

* स्वाहा और वषट् ये दो स्तन हैं जिन पर देवता निर्वाह करते हैं अर्थात् इन दो शब्दों से देवताओं को हवि देते हैं, हन्त शब्द से मनुष्यों को देते हैं (हन्त से हन्ता वा हन्दा प्रसिद्ध हुआ है) और स्वधा शब्द से पितरों को देते हैं॥

तत्र विजिहीते, यथा लम्बरस्य खं, तेन स ऊर्ध्व आक्रमते। स चन्द्रमस मागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा दुन्दुभेः खं, तेन स ऊर्ध्व आक्रमते, स लोक मागच्छत्यशोकमहिमं। तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः

जब पुरुष इस लोक से चल देता है, तो वह वायु में पहुंचता है। तब वह उसके लिये छेद वाला होजाता है (जगह देता है) जितना कि रथ के पहिये का छेद होता है, उससे वह ऊपर चढ़ता है। वह सूर्य में पहुंचता है। तब सूर्य उसके लिये जगह देता है, जितना कि लम्बर*का छेद होता है, उससे वह ऊपर चढ़ता है, वह चन्द्र में आता है। उसके लिये वह (चन्द्र) वहां जगह देता है, जितना कि दुन्दुभि का छेद होता है, उसमें से वह ऊपर चढ़ता है, वह उस लोक (प्रजापति लोक) में पहुंचता है जहां न शोक है न हिम है †। वहां वह अनन्त बरस रहता है॥

ग्यारहवां ब्राह्मण।

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते। परम७ हैव लोकं जयति य एवं वेद। एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्य७हरन्ति। परम७हैव लोकं जयति य एवं वेद। एतद्वै परमं तपो, यं प्रेतमग्नावभ्यादधति। परम७हैवलोकं जयति य एवं वेद॥ १॥

यह परम (सब से बढ़कर) तप है, जो रोगी होकर तपता है (दुःख भोगता है)। जो ऐसा जानता है, वह परम लोक

* लम्बर एक प्रकार का बाजा है। † शोक नहीं अर्थात् कोई मानस दुःख नहीं और बर्फ नहीं अर्थात् शारीरिक दुःख नहीं (शंकराचार्य)

को जीतता है * । यह परम तप है, जो मरे हुए को जङ्गल की ओर ले जाते हैं † । जो यह जानता है, वह परम लोक को जीतता है । यह परम तप है, जो मरे हुए को आग पर रखते हैं ‡ । जो यह जानता है, वह परमलोक को जीतता है ॥१॥

बारहवां ब्राह्मण ।

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुः, तन्न तथा, पूयति वा अन्नमृते प्राणात् । प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुः, तन्न तथा, शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात् । एते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतः । तद्धस्माह प्रातृदः पितरं–'किंस्विदेवैवंविदुषे साधु कुर्यां,किमेवास्मा असाधु कुर्यामि'इति । स हस्माऽऽह पाणिना–'माप्रातृद कस्त्वेनयो रेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छति'इति । तस्मा उ हैतदुवाच 'वीति' अन्नं वै वि, अन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि । रमिति,प्राणो वै रं,प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते । सर्वाणि ह वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति, सर्वाणि भूतानि रमन्ते, य एवं वेद ॥१॥

कई कहते हैं अन्न ब्रह्म है, पर यह ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्न प्राण के बिना गल जाता है । दूसरे कहते हैं प्राण ब्रह्म है, पर यह

---

* अभिप्राय यह है, कि उपासक बीमारी को तप समझे, न निन्दे, न निराश हो । और उसके दुःख को ऐसा ही ध्यान करे, जैसा तप करने में दुःख होता है । जो ऐसा ध्यान करता है, वह इस दुःख से वही फल लाभ करता है, जो उसको बड़ा भारी तप करने में दुःख उठाने का होता है ॥ † यह तप उस तप के बराबर है, जो ग्राम को छोड़कर जङ्गल में रहना है ॥

‡ यह उस तप के बराबर है, जो पञ्चाग्नि तपना है ॥

ऐसा नहीं है, क्योंकि प्राण बिना अन्न के सूख जाता है। सो ये दोनों देवता (अन्न और प्राण) एक होकर परमता (ब्रह्मता) को प्राप्त होते हैं। इस पर प्रातृद ने पिता को कहा—'क्या मैं उसके लिये कोई भलाई कर सक्ता हूं जो यह जानता है, या इसके लिये कोई बुराई कर सक्ता हूं' * ? पिता ने उसे कहा हाथ से (रोकते हुए)—'मत प्रातृद, क्योंकि कौन इन दोनों (देवताओं) की केवल एकता को पाकर परमता को प्राप्त होता है' ? उसने कहा 'वि'। अन्न निःसन्देह वि है, क्योंकि ये सारे प्राणधारी अन्न पर रहते हैं (विशन्ति)'। (तब उसने कहा 'रम्' प्राण निःसन्देह 'रम्' है, क्योंकि सारे प्राणधारी प्राण (जीवन) में खुश रहते हैं (रमन्ते)'। सारे प्राणधारी उस पर रहते हैं (सहारा लेते हैं), सारे प्राणधारी उस में खुश होते हैं, जो यह यह जानता है'॥१॥

तेरहवां ब्राह्मण।

उक्थम्। प्राणो वा उक्थं, प्राणो हीद५ सर्वमुत्थापयति। उद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठति, उक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद॥ १॥

उक्थ† —प्राण निःसन्देह उक्थ है, क्योंकि प्राण इस सब को उठाता है (उत्थापयति)। जो ऐसा जानता है, उस से, उक्थ का जानने वाला वीरपुत्र उठता है (जन्मता है), और वह स्वयं उक्थ की सायुज्य और सलोकता को जीतता है॥ १॥

यजुः। प्राणो वै यजुः, प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि

* क्या वह ऐसा पूर्ण नहीं है, कि हानि लाभ उस पर कोई असर नहीं डाले। † अर्थात् जो उक्थ नाम मन्त्र हैं, उन पर ध्यान करना। उक्थ शस्त्र महाव्रत में प्रधान अङ्ग है। उक्थ का वर्णन कौषी० उ०३।३; ऐत० आ० २। ।२। यहां उक्थ, यजु, साम इत्यादि को प्राण रूप (व्यष्टि ब्रह्म के रूपों) में ध्यान करने का उपदेश है॥

युज्यन्ते । युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय, यजुषः सायुज्यꣳसलोकतां जयति, य एवं वेद ॥२॥ साम । प्राणो वै साम । प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि । सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते, साम्नः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ।३

यजु । प्राण निःसन्देह यजु है, क्योंकि प्राण में ये सारे प्राणधारी जुड़ते हैं * । जो यह जानता है, सारे प्राणधारी इसकी श्रेष्ठता के लिये जुड़ते हैं, और वह यजु की सायुज्य और सलोकता को जीतता है॥२॥साम । प्राण साम है, क्योंकि प्राण में ये सारे प्राणधारी मिलते हैं । जो यह जानता है, सारे प्राणधारी मिलकर इसकी श्रेष्ठता के लिये समर्थ होते हैं, और वह साम के सायुज्य और सलोकता को जीतता है ॥ ३ ॥

क्षत्रं । प्राणो वै क्षत्रं, प्राणो ह वै क्षत्रं । त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः । प्रक्षत्रमत्रमाप्नोति, क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

क्षत्र । प्राण निःसन्देह क्षत्र है । क्योंकि प्राण क्षत्र है, अर्थात् प्राण इसको क्षति से बचाता है । जो यह जानता है, वह उस क्षत्र (बल) को प्राप्त होता है, जो किसी दूसरे से रक्षा नहीं चाहता, † और वह क्षत्र के सायुज्य और सलोकता को जीतता है ॥ ४ ॥

चौदहवां ब्राह्मण ।

भूमिरन्तरिक्षं द्यौ रित्यष्टावक्षराणि । अष्टाक्षरꣳ ह वा

---

* विना प्राण के किसी से किसी के जुड़ने=साथी बनने का सामर्थ्य नहीं, इसलिये यजु प्राण कहलाता है, मानो प्राण यजु है ॥

† माध्यन्दिन पाठ क्षत्रमात्रं है, वह क्षत्र के स्वभाव को प्राप्त होता है या उस क्षत्र को प्राप्त होता है जो रक्षा करने वाला है (द्विवेद गङ्ग)

एकं गायत्र्यै पदम् । एतदु हैवास्या एतत् । स याव-देषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति, योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥१॥ऋचो यजूꣳषि सामानी त्यष्टावक्षराणि। अष्टा-क्षरꣳह वा एकं गायत्र्यै पदम् । एतदु हैवास्या एतत्। स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति, योऽस्या एत-देवं पदं वेद॥२॥प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराणि। अष्टाक्षरꣳहवा एकं गायत्र्यै पदम् । एतदु हैवास्या एतत्। स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति, योऽस्या एत-देवं पदं वेद। अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परो-रजा य एष तपति । यद्वै चतुर्थं तत् तुरीयं;दर्शतं पद-मिति ददृश इव ह्येषः, परोरजा इति सर्वमुह्येवैष रज उपर्युपरि तपति । एवꣳहैव श्रिया यशसा तपति, यो ऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

* भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ † ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का एक पाद आठ अक्षर का होता है । यही (त्रिलोकी) इसका यह (एक पाद) है। जो इसके इस (पाद) को इस प्रकार जानता है,वह उतना जीतता है(वश करता है) जितना इन तीनों लोकों में है॥१॥ ऋचः,यजूंषि,सामानि, ये आठ अक्षर है। आठ अक्षर का गायत्री

---

* उक्थ यजु साम की प्राणोपासना के अनन्तर गायत्री छन्द के विषय में उपासना बतलाते हैं, गायत्री छन्दों में मुख्य है, द्विजत्व का कारण है और प्राणत्राण का सामर्थ्य रखता है ॥

† द्यौः को दियौ उच्चारण करते है;इसी प्रकार व्यान को वियान और वरेण्यं को वरेणियं उच्चारण करते हैं (देखो पृ० २५६ नोट)

का एक पाद (दूसरा पाद) है, यही (त्रयी विद्या ऋचा, यजु, और साम का विषय) इसका यह (दूसरा पाद) है। जो इसके इस (पाद) को इस प्रकार जानता है, वह उतना जीतता है, जितनी यह त्रयी विद्या है(त्रयी विद्या मे जो फल मिलता है वह फल पाता है)॥२॥ प्राण अपान व्यान,=(वियान) ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर का गायत्री का एक पाद है(तीसरा पाद) है। यही (प्राण,अपान,व्यान) इसका यह (तीसरी पाद) है। जो इसके इस (तीसरे) पाद को इस प्रकार जानता है, वह उतना जीतता है, जहांतक कोई सांस लेने वाला है। और इस (गायत्री) का यही 'तुरीयं दर्शतं पदं परोरजाः' (चौथा दर्शनीय पाद है जो यह लोकोंसे ऊपर चमकताहै),जोकि यह तप रहा है(सूर्यका अन्तर्यामी) यह 'दर्शतं पदं' इसलिये है क्योंकि-यह दीखतासा है(जो सूर्यमें पुरुष है); और 'परोरजाः' इसलिये है,क्योंकि यह हरएक लोक के ऊपर२चमकता है। और वह जो इस (गायत्री) के इस पादको जानता है,वह इसी प्रकार शोभा से और यश से चमकता है

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता। तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं। चक्षुर्वै सत्यं,चक्षुर्हि वै सत्यं, तस्माद् यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयाताम् 'अहमदर्शमहमश्रौषमिति'।य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम। तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं,प्राणो वै बलं,तत्प्राणे प्रतिष्ठितं। तस्मादाहुः। 'बलꣳसत्यादोगीय' इति। एवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता। सा हैषा गयाꣳस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रे,तद्यद्गयाꣳस्तत्रे,तस्माद् गायत्री। सा यामेवामूꣳ सावित्री मन्वाह, एषैव सा। स यस्मा अन्वाह तस्य

प्राणाᳪस्त्रायते॥४॥ताᳪहैता मेके सावित्री मनुष्टुभ-मन्वाहुः। 'वागनुष्टु बे तद्वाचमनुब्रूम' इति। न तथा कुर्याद,गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद'। यदि हवा अप्येवंविद् बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद् गायत्र्या एकं चन पदं प्रति॥५॥ स य इमाᳪस्त्रीᳪल्लोकान् पूर्णान् प्रतिगृह्णीयात्, सोऽस्या एतत् प्रथमं पद माप्नुयाद्। अथ यावतीयं त्रयी विद्या,यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्, सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयाद्। अथ यावदिदं प्राणि यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात्,सोऽस्या एतत् तृतीयं पदमाप्नुयाद्।अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति,नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत् प्रतिगृह्णीयात्॥

वह गायत्री (त्रिलोकी, त्रयी विद्या और प्राण जिसके तीन पाद हैं) इस चौथे पाद पर ठहरी हुई है, जो यह दर्शनीय सब लोकों से ऊपर है। और वह फिर (चौथा पाद) सत्य पर ठहरा हुआ है, और सत्य आंख है,क्योंकि आंख सत्य है यह प्रसिद्ध है। इसलिये अब भी यदि दो पुरुष झगड़ते हुए आएं,(एक यह कहता हुआ) मैंने-देखा है, और दूसरा-मैंने सुना है, तो हम उसी के लिये श्रद्धा करेंगे, जो यह कहता है, कि मैंने देखा है। और वह सत्य फिर बल (शक्ति) पर ठहरा हुआ है, और बल प्राण (जीवन) है, वह (बल) प्राण पर ठहरा हुआ है। इस लिये कहते हैं कि बल सत्य से भारी शक्ति है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म सम्बन्ध में ठहरी हुई है। यह गायत्री प्राणों (इन्द्रियों) की रक्षा करती है। सो जिस लिये यह प्राणों की रक्षा करती है, इसलिये गायत्री नाम है (गयांस्त्रायते=गायत्री)। वह (आचार्य शिष्य को) जिस सावित्री (सवितृ देवता वाली) ऋचा का उपदेश

करता है, यही वह (गायत्री) है। वह (आचार्य्य) जिस के लिये उपदेश करता है, उसके प्राणों की रक्षा करती है * ॥ ४ ॥ कई (आचार्य शिष्य के प्रति) इस सावित्री को अनुष्टुभ्छन्द † में उपदेश करते हैं, इस बुद्धि से कि अनुष्टुभ् वाणी है, सो इस तरह पर हम (शिष्य को) वाणी (सरस्वती) का उपदेश करते हैं। पर ऐसा नहीं करना चाहिये, गायत्री छन्द में ही सावित्री का उपदेश करना चाहिये ‡। और यदि इस (रहस्य) को समझने वाला (आचार्य गायत्री के उपदेश के बदले में) बहुत सा भी लेता है,तो वह गायत्री के एक पाद के बराबर भी नहीं है॥५॥यदि कोई (आचार्य) सब वस्तुओं से पूर्ण हुए इन तीनों लोकों को (गायत्री के उपदेश की) दक्षिणा लेवे,तो वह इसके पहले पाद को प्राप्त हो सके §। और यदि कोई पुरुष उतना लेवे, जितनी कि यह त्रयी विद्या है (त्रयी विद्या का फल है) तो वह इसके दूसरे पाद को प्राप्त होसके। और यदि कोई पुरुष उतना लेवे, जितना कि यह प्राणधारी जगत है,तो वह इसके तीसरे पाद को प्राप्त होसके, और इसका यही चौथा दर्शनीयपाद लोकों से ऊपर है,जो यह तपता है। यह किसी(प्रतिग्रह) से नहीं पाया जासक्ता,कहां से इतना लेवे॥॥६॥

---

* आठ वर्ष की आयु में शिष्य को आचार्य्य सावित्री (गायत्री) का उपदेश करता है। और वह इस सावित्री के उपदेश से जानता है, कि इस को प्राण का=नए जीवन, का उपदेश दिया गया है॥ † यह ऋचा ऋग्वेद ५। ८२। १ की है–तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥ ‡ क्योंकि गायत्री जीवन (प्राण) की जगह है, और शिष्य नए जीवन को लाभ करता है, जब वह गायत्री सीखता है॥ § इतनी दक्षिणा से वह आचार्य्य गायत्री के प्रथमपाद के ज्ञान का ही फल भोगेगा,यह दान उसे अधिक दोषी नहीं बनाएगा। ‖ पहले तीन पादों के ज्ञान का फल जो बतलाया है, उसका भी दाता 'प्रतिग्रहीता' कोई नहीं हो

तस्या उपस्थानम्—'गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे'। 'असावदो मा प्रापदिति' यं द्विष्याद् 'असावस्मैकामो मा समृद्धीति' वा, न हैवास्मै स कामः समृध्यते, यस्मा एवमुपतिष्ठते। 'अहमदः प्रापमिति वा' एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिल माश्वतराश्वि मुवाच। य न्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा, अथ कथᳪ हस्ती भूतो वहसीति'। 'मुखᳪ ह्यस्याः सम्राण्न विदाञ्चकार' तिहोवाच। तस्या अग्निरेव मुखं; यदि हवा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति, सर्वमेव तत्संदहति, एवᳪ ह वैवंविद् यद्यपि बह्विव पापं कुरुते, सर्वमेव तत् संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः सम्भवति ॥ ८ ॥

सं०—यह उस (गायत्री) का उपस्थान * हैः—

'हे गायत्रि ! तू एक पादवाली है, दो पादवाली है, तीन पाद वाली है, चार पादवाली है † । तू विना पाद के है, क्योंकि तू

सक्ता, तथापि कल्पना करके यह फल कहा है। अब त्रिलोकी, त्रयी विद्या और प्राणि जगत् में सब कुछ आ गया, इसलिये चौथे पाद का बदला कोई शेष नहीं रहता। अर्थात् गायत्री के इस रहस्य को जानने वाला जो नाम सद्वस्तु है, उस सब का प्रतिग्रह ले लेवे, तो भी गायत्री के ज्ञान का फल उससे बढ़कर रहेगा॥ *उपस्थान में देवता की स्तुति और नमस्कार की जाती है और उसके पीछे प्रार्थना की जाती है। वह प्रार्थना दो प्रकार की होती है। आभिचारिक=दूसरे के विरुद्ध। और आभ्युदयिक=अपने लिये वर मांगना। आभिचारिक के दो आकार हैं, 'असावोदामाप्रापत' 'असावस्मै कामो मा समृद्धि'। और आभ्युदयिक का एक आकार है 'अहमदः प्रापम्'। उपस्थान इस फल की प्राप्ति का असर रखना है, जब वह गायत्री के साथ लगाया जाता है॥ † पहला पाद त्रिलोकी, दूसरा त्रयी विद्या, तीसरा प्राणअपान व्यान चौथा परोरजाः है॥

जानी नहीं जाती है * । तेरे चौथे दर्शनीय पाद के लिये नमस्कार है, जो 'सब लोकों से ऊपर है' । (इस उपस्थान के अन्त में) जिस के साथ द्वेष हो, उसके लिये यह वचन कहे कि 'वह † (शत्रु) उस (फल) को मत प्राप्त हो' या यह कहे कि 'उसकी वह कामना पूरी न हो' । निःसन्देह उसकी वह कामना पूरी नहीं होती, जिसके लिये इसप्रकार उपस्थान किया गया है । या यह कहे कि मैं इस(अमुक) फल को प्राप्त होऊं॥७॥यह बात जनक वैदेह ने बुडिल आश्वतराश्वि (अश्वतराश्व के पुत्र)को कही'यह क्या ?तू तो अपने आपको गायत्री का जानने वाला बतलाता था, तो अब कैसे हाथी बनकर मुझे उठाए लेजारहा है' ? उसने कहा—'हे सम्राट्! मैंने इसके मुख को नहीं जाना था' । अग्नि ही उसका मुख है;और यदि बहुत कुछ भी अग्नि में डाल देते हैं, तो वह उस सब को भस्मकर देता है, इसी प्रकार इस(रहस्य) को जानने वाला यदि बहुतसा पाप भी‡करता है,तो वह उस सब को खाकर शुद्ध पवित्र अजर अमर होता है॥८॥

पन्द्रहवां ब्राह्मण ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह! तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि । योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ वायुरनि-

---

* शुद्ध स्वरूप विनापद के नेति नेति से ही वर्णन होता है ॥ † वह शत्रु रूपी कार्य जो तेरी प्राप्ति में विघ्नकारी है (शंकराचार्य) असौ की जगह शत्रु का नाम उच्चारण करे (शंकराचार्य) ॥ ‡ यहां पाप से अभिप्राय प्रतिग्रह से है, जिसका पूर्व प्रसङ्ग आरहा है । अर्थात् जो गायत्री के रहस्यको बिन जाने अधिक प्रतिग्रह लेता है, तो पापी बनता है,जैसाकि बुडिल निरा मुख के न जानने से हस्ती बना । और जो इसके रहस्य को जानता है,वह इसके प्रभाव से,प्रतिग्रहसे पापी नहीं बनता,किन्तु उस सबको खाकर भी शुद्ध पवित्र अजर अमरहोताहै।

लममृत मथेदं भस्मान्त॒ शरीरम्। ओं क्रतो स्मर कृत॒स्मर क्रतो स्मर कृत॒स्मर॥ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥ १॥

* सुनहरी पात्र=(सूर्य मण्डल) से सत्य (सूर्य के अधिष्ठाता हरिण्यगर्भ) का मुख † ढपा हुआ है। हे पूषन्! तू उसे खोलदे, जिस से मैं सत्य के स्वरूप का दर्शन करूं‡॥ हे पूषन्! एक देखने वाले, यम, (न्यायकारी) सूर्य, प्राजापत्य, § रश्मियों को फैला, और इकट्ठा कर। यह तेज जो तेरा कल्याणतम रूप है, मैं तेरे उस(रूप) को देखता हूं, जो वह वह पुरुष (सत्य ब्रह्म) है, वह मैं हूं॥ प्राण अमर वायु को (समष्टि वायु को जामिले) और यह शरीर भस्म में समाप्त हो। हे संकल्पमय! (मन) तू ‖ ओम् का स्मरण कर, अपनी

---

* ये ऋचाएं माध्यन्दिन शाखा में छोड़ी हुई हैं। ईश उपनिषद् में १५-१८ ये मन्त्र हैं। यह बतलाया गया है कि जब उपासक मरने के निकट होता है तो वह इन मन्त्रों से सत्य ब्रह्म को (सूर्य के अन्तर्यामी) को सम्बोधन करे॥ † मुख=मुख्य स्वरूप (शंकाचार्य)॥ ‡ मिलाओ=मैत्री० उप० ६। ३॥ § प्राजापत्य=प्रजापति के सन्तान, प्रजापति=ईश्वर वा हिरण्यगर्भ (शंकराचार्य)। ‖ 'ओं क्रतो स्मर' इत्यादि से अपना संकल्प रूप होकर मन में स्थित जो अग्नि देवता है, उससे प्रार्थना करता है। अग्नि ईश्वर का प्रकाशक है इसलिये ओम् शब्द से और मनोमय है इसलिये क्रतु शब्द से

वाजसनेयी संहिता का पाठ है—'ओम् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर' उव्वट यहां अग्नि से अभिप्राय लेता है, जिसमें आयु भर होम किया है, और अब जो मन के रूप में प्रगट है, वा क्रतु से अभिप्राय यज्ञ लेता है। हे अग्ने! मुझे स्मरण कर, लोक के लिये स्मरण कर, (अर्थात् मैंने इसे यह लोक देना है) मेरे किये हुए को स्मरण कर'। और क्लिबे पर महीधर ने लिखा है, यह क्लिप् का चतुर्थ्यन्त रूप है। क्लिप् अर्थात् लोक, जो कुछ भोगा जाता है (कल्प्यते भोगाय)॥

कमाई का स्मरण कर, हे संकल्पमय! स्मरण कर, अपनी कमाई का स्मरण कर ॥ हे अग्ने, हे देव! तू हमारे सारे कर्मों को जानता है। हमें ऐश्वर्य के लिये शुभ मार्ग(उत्तर मार्ग)से लेचल,कुटिल पाप कोहमसे दूर कर,हम बारम्बार तुझे नमोवचन देंगे(ऋ०१।१८९।१)

छटा अध्याय—पहला ब्राह्मण *

ओम्। यो ह वै ज्येष्ठं श्रेष्ठं च वेद,ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति। प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति,अपिच,येषां बुभूषति य एवं वेद ॥१॥ यो ह वै वसिष्ठां वेद,वसिष्ठः स्वानां भवति। वाग्वै वसिष्ठा। वसिष्ठः स्वानां भवति, अपि च येषां बुभूषति, य एवं वेद ॥२॥यो हवै प्रतिष्ठां वेद, प्रतितिष्ठति समे, प्रतितिष्ठति दुर्गे। चक्षुर्वै प्रतिष्ठा, चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति। प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे,य एवं वेद ॥३॥ यो ह वै संपदं वेद, सꣳहास्मै पद्यते, यं कामं कामयते। श्रोत्रं वै सम्पत्, श्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः। सꣳहास्मै पद्यते यं कामं कामयते, य एवं वेद ॥ ४ ॥

जो ज्येष्ठ (सब से बड़े) और श्रेष्ठ को जानता है, वह अपने लोगों के मध्य में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। प्राण निःसन्देह ज्येष्ठ

सम्बोधन किया है। हे ओम्, हे क्रतो! स्मरण कर, मेरे किये हुए को स्मरण कर, क्योंकि तेरे स्मरण के अधीन इष्टगति है (शंकराचार्य)

* माध्यन्दिनी शाखा में यह १४।९।२ पर है। यह विषय छान्दो०उप० ५।१;ऐत०आ०२।४; कौषी०उप० ३।३; प्रश्न०उप० २।३ में भी है॥

और श्रेष्ठ है * । जो यह जानता है, वह अपने लोगों के मध्य में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है, और उनके भी, जिनके मध्य में होना चाहता है ॥१॥ जो बड़ी अमीर † को जानता है,वह अपने लोगों के मध्य में बड़ा अमीर होता है । वाणी निःसन्देह बड़ी अमीर है । जो यह जानता है, वह अपने लोगों के मध्य में बड़ा अमीर होता है, और उनके मध्य में भी, जिनके होना चाहता है ॥ २ ॥ जो दृढ़ स्थिति को जानता है,वह दृढ़ स्थित होता है सम (स्थान) में और दृढ़ स्थित होता है विषम में । आंख निःसन्देह दृढ़ स्थिति है,क्योंकि आंख के द्वारा मनुष्य सम और विषम में दृढ़ स्थित होता है ॥ ३ ॥ जो सम्पदा को जानता है, वह जो कामना चाहता है, उसके लिये सिद्ध होती है । श्रोत्र सम्पदा है,क्योंकि श्रोत्र में सारे वेद सफल होते हैं । जो यह जानता है, वह जो कामना चाहता है, उसके लिये सिद्ध होती है ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेद, आयतनꣳस्वानां भवत्यायतनं जनानां । मनो वा आयतनम् । आयतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥५॥

जो घर (इन्द्रियों और विषयों के आश्रय दाता) को जानता है, वह अपने लोगों का घर होता है, सब लोगों का घर होता है । मन निःसन्देह घर है । जो यह जानता है,वह अपने लोगों का और सब लोगों का घर (आश्रय दाता) बन जाता है ॥ ५ ॥

यो ह वै प्रजातिं वेद,प्रजायते ह प्रजया पशुभिः ।

* प्राण के अधीन सब इन्द्रियों की स्थिति है, इसलिये प्राण श्रेष्ठ है । और प्राण वीर्य के साथ आता है, शेष इन्द्रिय पीछे उत्पन्न होते हैं, इसलिये प्राण ज्येष्ठ भी है । † यहां यह स्त्रीलिङ्ग में आया है, छान्दो० उप० ५ । १ में वसिष्ठः इस प्रकार पुँल्लिङ्ग है ।

रेतो वै प्रजातिः। प्रजायते ह प्रजया पशुभिः,य एवं वेद॥६॥ते हेमे प्राणा अहꣳश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः। तद्धोचुः। 'को नो वसिष्ठ'इति। तद्धोवाच 'यस्मिन्व उत्क्रान्त इदꣳशरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ'इति॥७॥वाग्घोच्चक्राम। सा संवत्सरं प्रोष्या-गत्योवाच'कथमशकत मदृते जीवितुमिति'।ते होचुः— 'यथाकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तःप्राणेन,पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तःश्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसा,एवमजीविष्मेति। प्रविवेश ह वाक्॥ ८॥

* जो अगली उत्पत्ति को जानता है,वह सन्तान और पशुओं से सम्पन्न होता है। बीज अगली उत्पत्ति है। जो यह जानताहै,वह प्रजा और पशुओं से सम्पन्न होता है॥६॥ ये प्राण (इन्द्रिय) 'मैं श्रेष्ठ हूं' के लिये झगड़ते हुए ब्रह्म† के पास गए। और कहा'कौन हम में से श्रेष्ठ है' उसने कहा—'तुम में से जिसके निकल जाने पर यह शरीर अधिक दूषित समझा जाए, वह तुम में से श्रेष्ठ है॥७॥ वाणी बाहर गई। और बरस भर बाहर रहकर वापिस आई और कहा 'तुम मेरे विना कैसे जी सके'? उन्होंने कहा'जैसे गूंगे वाणी से न बोलते हुए भी, प्राण से सांस लेते हुए, आंख से देखते हुए, कान से सुनते हुए,मनसे जानते हुए,बीज से आगे उत्पत्ति करते हुए जीते हैं, इस प्रकार हम जिये'। तब वाणी प्रविष्ट हुई॥ ८॥

चक्षुर्होच्चक्राम—तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच 'कथमशकत मदृते जीवितु मिति'। ते होचुः—'यथाऽन्धा अ-

* यह छान्दोग्य उप० में नहीं है॥ † छान्दोग्य में ब्रह्म की जगह यहां प्रजापति और वसिष्ठः की जगह श्रेष्ठः है॥

पश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्मेति'। प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

अब आंख बाहर गई, और बरस भर बाहर रहकर आई और कहा 'मेरे बिना तुम कैसे जीसके' उन्हों ने कहा जैसे अन्धे आंख से न देखते हुए भी, प्राण से सांस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, कान से सुनते हुए, मन से जानते हुए और बीज से आगे उत्पत्ति करते हुए जीते हैं वैसे हम जिये। आंख प्रविष्ट हुई ॥९॥

श्रोत्रꣳहोच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच 'कथमशकत मदृतेजीवितुमिति'।ते होचुः—यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तोवाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्मेति। प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

कान बाहर गया, वह बरस भर बाहर रहकर आया और कहा 'मेरे बिना तुम कैसे जीसके' उन्होंने कहा 'जैसे बहरे जन कान से न सुनते हुए भी प्राण से सांस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, आंख से देखते हुए, मन से जानते हुए और बीज से आगे उत्पत्ति करते हुए जीते हैं, वैसे हम जिये। कान प्रविष्ट हुआ ॥ १० ॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच 'कथमशकत मदृतेजीवितुमिति'। ते होचुः यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसा, जीविष्मेति। प्रविवेशह मनः ॥ ११ ॥

मन बाहर गया और बरस भर बाहर रह कर वापिस आया और कहा, 'मेरे विना तुम कैसे जिये' उन्होंने कहा 'जैसे मूर्खजन मन से न जानते हुए भी, प्राण से सांस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, आंख से देखते हुए, कान से सुनते हुए और बीज से आगे उत्पत्ति करते हुए जीते हैं, वैसे हम जिये। मन भी प्रविष्ट हुआ॥११॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच 'कथमशकत मदृते जीवितु मिति'। ते होचुः—'यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तोवाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाᳪसो मनसा एवमजीविष्मेति'। प्रविवेश ह रेतः॥ १२॥

बीज बाहर गया, वह बरस भर बाहर रहकर वापिस आया और कहा 'मेरे बिना तुम कैसे जिये'। उन्होंने कहा 'जैसे नपुंसक बीज से आगे उत्पत्ति न करते हुए भी, प्राण से सांस लेते हुए वाणी से बोलते हुए आंख से देखते हुए कान से सुनते हुए और मन से जानते हुए जीते हैं, वैसे हम जिये। बीज भी प्रविष्ट हुआ॥१२॥

अथ ह प्राण उत्क्रामिष्यन् यथा महासुहयःसैन्धवः पड्वीशशंकून्संवृहेदेवᳪहैवेमान् प्राणान् संववर्ह। ते होचुः 'मा भगव उत्क्रमीः। नैवशक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति'। 'तस्यो मे बलिं कुरुतेति' 'तथेति' ॥ १३॥

अब (मुख्य) प्राण जब बाहर जाने लगा, तो उसने उन (सब) को उखाड़ दिया, जैसे एक बड़ा और उत्तम सिन्धु देश का घोड़ा उन कीलों को उखाड़ देता है जिनसे उसके पाओं बंधे हुए होते हैं। तब उन्हों (इन्द्रियों) ने कहा 'भगवन् बाहर मत जाओ, तेरे विना हम जी नहीं सक्के' (उसने कहा) 'तब मुझे भेंट दो' उन्होंने कहा 'बहुत अच्छा' १३

सा ह वागुवाच 'यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि, त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति'। यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि, त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति' चक्षुः। 'यद्वा अहꣳसम्पदस्मि त्वं तत्संपदसीति' श्रोत्रं। 'यद्वा अहमायतनमस्मि, त्वं तदायतनमसीति' मनः। 'यद्वा अहं प्रजातिरस्मि, त्वं तत्प्रजातिरसीति' रेतः। 'तस्यो मे किमन्नं किं वास इति'। 'यदिदं किञ्चाऽऽश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यः, तत्तेऽन्नमापोवास इति'। न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति, नानन्नं प्रतिगृहीतं,य एवमेतदनस्यान्नं वेद। तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

वाणी ने (भेंट देते हुए) कहा 'मैं जो अमीर हूं,वह अमीर तू है' (मेरी वसिष्ठता तेरी ही वसिष्ठता है)। आंख ने कहा 'मैं जो दृढ़ स्थिति हूं, वह दृढ़ स्थिति तू है' कान ने कहा 'मैं जो सम्पदा हूं,वह सम्पदा तू है'। मन ने कहा 'मैं जो घर हूं, वह घर तू है' बीज ने कहा 'मैं जो आगे उत्पत्ति हूं, वह आगे उत्पत्ति तू है' तब उसने कहा 'मेरे लिये अन्न क्या होगा और वस्त्र क्या'? (उन्होंने कहा) जो कुछ यह है,कुत्तों तक,छोटे कृमियों तक और कीड़े पतंगों तक वह तेरा अन्न है* और जल तेरा वस्त्र। जो इस प्रकार अन (प्राण) के अन्न को जानता है, उसकी खाई हुई कोई वस्तु ऐसी नहीं हो सक्ती,जो(ठीक) अन्न हो,† उसकी दान ली हुई कोई वस्तु नहीं,जो

*अभिप्राय यह है,कि हरएक प्रकार का अन्न चाहे वह कुत्तों से खाया जाताहै,वा कृमियों से अथवा कीट पतंगों से, वह प्राण की खुराक है॥

† यह अभिप्राय नहीं,कि ऐसा जानने वाले के लिये भक्ष्याभक्ष्य का

(ठीक) अन्न न हो । वेद के जानने वाले यह(जल प्राण का वस्त्र है) जानते हुए जब खाने लगते हैं, तो आचमन करते हैं, और खाने के पीछे भी फिर आचमन करते हैं,इस से वे समझते हैं कि हम प्राण को नंगा नहीं करते हैं (जल का वस्त्र पहनाते हैं) ॥ १४ ॥

दूसरा ब्राह्मण * ।

श्वेतकेतुर्हवा आरुणेयः पञ्चालानां परिषद माजगाम । स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं । तमुदीक्ष्याभ्युवाद । 'कुमारा३इति,स 'भो३इति' प्रतिशुश्राव। 'अनुशिष्टोन्वसि पित्रेति' । 'ओ मिति' होवाच ॥१॥

श्वेतकेतु आरुणेय (अरुण का पोता) पञ्चालों की सभा में आया । वह जैवलि (जैवल के पुत्र) प्रवाहण † (राजा) के पास पहुंचा, जब कि वह (अपने लोगों समेत)दौरा (या सैर) कर रहा था । ज्यूंही कि (राजा ने)उसेदेखा,उसने कहा'कुमार'श्वेतकेतु ने उत्तरदिया'भगवन्' (राजाने उसे पूछा)क्या तुम पितासे शिक्षा दियेगए हो।उसने कहा'हां'

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता३इति । नेति होवाच। वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३इति। नेति होवाच । वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिःपुनः पुनः प्रयद्भिर्न सम्पूर्यता ३ इति। नेति हैवोवाच । वेत्थो यतिथ्यामाहुत्याᳩहुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३इति । नेति होवाच। वेत्थो देवया

भेद नहीं रहता। किन्तु ऐसा जानने वाले नेप्राणों की रक्षा के उद्देश्य से जो कुछ भी खाया है, वह उसको पापी नहीं ठहराता (देखो छा० उप० १ । १०में उषस्ति चाक्रायण का इतिहास) * मिलाओ छान्दो० उ०५।३ † यह क्षत्रिय ब्रह्मविद्या में पूर्ण विद्वान् था छांदो०उ०१।८।१ में उद्गीथ विद्या में इसने दो ब्राह्मणों को चुप कराया था ॥

नस्य वापथः प्रतिपदं, पितृयाणस्य वा, यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वा। अपिहि न ऋषेर्वचः श्रुतं—'द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति'। 'नाहमत एकंचन वेदेति' होवाच॥२॥

(राजा ने कहा) क्या तुम जानते हो कि यह मनुष्य मर कर जैसे अलग २ मार्ग लेते हैं। उसने कहा 'नहीं'। क्या तुम जानते हो कि किस तरह वे इस लोक को वापिस आते हैं' उसने कहा 'नहीं'। 'क्या तुम जानते हो, कि वह लोक क्यों भर नहीं जाता, जब कि यहां से बहुत से लोग इस तरह फिर फिर २ उसमें जा रहे हैं, उसने कहा 'नहीं'। क्या तुम जानते हो, कि कितवीं आहुति के होम किये जाने पर जल (होम किये हुए दुग्ध आदि) मानुषी वाणी वाले बनकर उठते हैं और बोलते हैं? उसने कहा 'नहीं'। 'क्या तुम जानते हो, देवयान के मार्ग की प्राप्ति को और पितृयाण मार्ग की प्राप्ति को, अर्थात् जो कर्म करके देवयान मार्ग को प्राप्त होते हैं वा पितृयाण मार्ग को प्राप्त होते हैं? और क्या तुमने (इस विषय में) ऋषि का वचन (मन्त्र) नहीं सुना है—'मैंने मनुष्यों के लिये दो रस्ते सुने हैं, एक पितरों का दूसरा देवताओं का। उन्हीं दोनों (मार्गों) से यह सारा विश्व चलता हुआ जाता है जो पिता (द्यौ) और माता (पृथिवी) के मध्य में है'। उसने कहा 'मैं इन प्रश्नों में से एक भी नहीं जानता हूं'॥२॥

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रे। अनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव। स आजगाम पितरं, तं होवाच। 'इति वाव किल नो भवान् पुराऽनुशिष्टानवोचः' इति। 'कथꣳसुमेध' इति। 'पञ्चमाप्रश्नान्राजान्यबन्धुरप्राक्षीत्, ततोनैकं-''कतमे त' इति। 'इम' इतिप्रतीकान्युदाजहार

तब राजाने इसे ठहरने के लिये(आतिथ्य सत्कार के लिये)कहा। पर कुमार ठहरना स्वीकार न कर वेग से लौट आया। वह पिता के पास आया और उसे कहा—'यह आपने हमें पहले कहा था, कि तुम शिक्षा दिये जाचुके हो'। (पिता ने कहा) 'तब हे पवित्र समझ वाले! क्या बात है' (पुत्र ने कहा) 'उस क्षत्रिय बन्धु * ने मुझे पांच प्रश्न पूछे हैं, उनमें से मैं एक भी नहीं जानता हूं'। (पिता ने कहा) 'वे कौन से हैं'। (उसने) 'ये हैं' यह कह कर प्रतीकें बोलदीं॥३॥

सहोवाच—'तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं, प्रेहितु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव' इति। भवानेव गच्छत्विति। स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास। तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकार। अथ हास्मा अर्घ्यं चकार। तं होवाच-'वरं भगवते गौतमाय दद्म इति'॥४

उसने कहा—हे बेटा! तुम हमें ऐसा जानो, कि जो कुछ मैं जानता था, वह सब तुझे बतला दिया है। सो आओ चलो वहां वापिस जा कर हम दोनों ब्रह्मचर्यवास करें'। (पुत्र ने कहा) 'आपही जाएं'तब वह गौतम वहां आया, जहां प्रवाहण जैवलि (का स्थान)था। (राजा ने) उसके लिये आसन देकर जल मंगवाया और अर्घ्य (आतिथ्य पूजन)किया। तब उसे कहा'हे भगवन् गौतम हम आपको वर देते हैं'॥

सहोवाच—'प्रतिज्ञातो म एष वरः, यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति॥५॥ सहोवाच—'दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषणां ब्रूहीति'॥ ६॥

---

* क्षत्रिय न कहकर, क्षत्रिय बन्धु कहने में कुछ घृणा प्रकट की है। अर्थात् वह, जिसके बन्धु क्षत्रिय हैं, नकि ब्राह्मण, मैं उसके प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सका॥

गौतम ने कहा—'यह वर तुमने मेरे लिये मान लिया है। अब वही बात मुझे बताओ, जो तुमने मेरे पुत्र के पास कही है।५। उसने कहा 'हे गौमत वह दैव वरों में से है, मानुष वरों (धन, पशु आदि) में से कोई कहो'॥६॥

सहोवाच—'विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गो अश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य, मानो भवान् बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति'। 'स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इति'। 'उपैम्यहं भवन्तमिति'। वाचा हस्मैव पूर्व उपयन्ति। सहोपायनकीर्त्योवास॥७

उसने कहा—'तुम अच्छी तरह जानते हो, कि मेरे पास सोने की, गौओं और घोड़ों की, दासियों की, परिवारों की, और कपड़े की बहुतायत है, मत आप हमारे लिये बड़े, अनन्त, और अनखुट्ट (धन) के अधिक ढेर लगाने वाले बनें *, (राजा ने

* अर्थात् जो धन मेरे पास अनुखट्ट पड़ा है, यदि उसी धन के और ढेर आप मेरे घर लगादेंगे, तो मेरा उससे क्या सिद्ध होगा, मैं इस धन के लिये नहीं आया, न लेना चाहता हूँ, मुझे वह धन दो जिस का मैं अर्थी हूँ॥

स्वामि शंकराचार्य्य यहां अभि+अवदान्यः छेद करके अवदान्यः का अर्थ कदर्य=कंजूस लेकर यह अभिप्राय लिखते हैं। कि तुम और सब जगह उदार रहकर अब 'नः अभि' हमारे लिये ही कंजूस मत बनो। वदान्यः=उदार और अवदान्यः=कंजूस। यह अवदान्य शब्द यद्यपि व्याकरण की रीति से वदान्य का प्रतियोगी बन सक्ता है, तथापि इस अर्थमें इसका प्रयोग नहीं पायाजाता, और दूसरा—अभिशब्द को अपनी जगह से फेंकना पड़ता है। इस लिये यह अवदान्य अवदान से निकला हुआ प्रतीत होता है जिस का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुधा पाया जाता है। अवदान=कटा हुआ टुकड़ा, काट कर अलग की हुई हवि। (देखो मैत्री० उप० ६। ३२)। और अभ्यवदा अधिक काटने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (देखो शतपथ

कहा) गौतम ? क्या तुम न्यायमार्ग (ठीक रस्ते) से (शिक्षा पाना) चाहते हो।' (गौतम ने कहा) 'मैं (शिष्य के तौर पर) आपके पास आता हूं। वाणी से ही बड़े (ब्राह्मण) (शिष्य के तौर पर छोटी जातियों के) पास आते थे*। बस उसने पास आने के कहने से वास किया॥७

सहोवाच—'तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पितामहाः, यथेयं विद्येतः पूर्वं नकस्मिꣳश्चन ब्राह्मण उवास। तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्त मर्हति प्रत्याख्यातु मिति ॥८॥ असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम, तस्यादित्य एव समिद्, रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति। तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति॥९

राजा ने कहा—'हे गौतम (इसमें) तुम दोषी हमें न ठहराओ और न तुम्हारे पुरुखा † (हमें दोषी ठहराएं), क्योंकि यह विद्या इससे पहले किसी ब्राह्मण के पास नहीं रही है। पर मैं तुझे वह (विद्या) बताऊंगा, क्योंकि कौन तुम से इन्कार कर सक्ता है, जब तुम इस तरह कह रहे हो ॥८॥ ‡ वह लोक (द्यौ) हे गौतम अग्नि है; सूर्य उस की समिधा है, किरणें धूम है, दिन लाट है, दिशाएं अंगारे हैं, मध्य की

ब्रा० २।५।२।४०। अभ्यवदान्य इस का अर्थ उस से अधिक देने वाला, जितना कि अभिप्रेत है॥

* अर्थात् शिष्य के लिये जो गुरु के चरणों पर हाथ रखना है, वह उच्च वर्ण के निचले वर्णों के साथ नहीं करते हैं, केवल 'उपैमि' इतना कहना ही उनका शिष्य बनना है सो ऐसे ही गौतम भी बना॥

† जैसे तुम्हारे बड़ों ने हमारे बड़ों का अपराध नहीं जाना ऐसे तुम भी हमारा अपराध न जानो (शंकराचार्य)॥

‡ पांच प्रश्नों में से चौथे प्रश्न का निर्णय पहिले करते हैं, क्योंकि शेष सारे प्रश्नों का निर्णय इस प्रश्न के निर्णय के अधीन है॥

दिशाएं (कोणें) चिंगाड़ियां हैं। इस अग्नि में देवता श्रद्धा की आहुति देते हैं। उस आहुति से राजा सोम(चन्द्र)उत्पन्न होता है *

---

* पूर्व कर्म्म काण्ड के प्रकरण में अग्निहोत्र के विषय में जनक ने याज्ञवल्क्य के प्रति छः प्रश्न किये हैं, कि तुम इन (सायं प्रातः की) दोनों आहुतियों का यहां से ऊपर उठना, गमन करना, ठहरना, तृप्त करना, फिर लौटना और इस लोक में आकर फिर उठना, जानते हो। वहां इन प्रश्नों के उत्तर में आहुतियों का अन्तरिक्ष और द्यौ में जाना और वहां फल देना आदि लिखा है। कर्म का फल कर्ता के लिये होता है, इसलिये अभिप्राय यह है, कि सायं प्रातः के होम से अन्तःकरण में वह धर्म्म उत्पन्न होता है, जो मरने के पीछे साथ जाता है और फल देता है, इसी को अपूर्व और इसी को अदृष्ट कहते हैं। मानों ये दोनों आहुतियें सूक्ष्मरूप (धर्मरूप) में कर्ता के साथ हैं, यही बीज है उस वृक्ष का, जो कर्ता के लिये फल लाने वाला है। इन दोनों आहुतियों के ऊपर उठने, अन्तरिक्ष में जाने और फिर द्यौ लोक में जाने आदि का यह अभिप्राय है, कि वे इस सूक्ष्मरूप में सूक्ष्म शरीर के साथ अन्तरिक्ष में से होती हुई द्यौ लोक में जाती हैं। जिस लिये ये अग्निहोत्र की आहुतियें हैं, इसलिये इनका कार्य प्रगट करने के लिये भी सब जगह अग्निहोत्रकी ही कल्पना कीगई है। जैसे जब वे अन्तरिक्ष में जाती हैं,तो अन्तरिक्ष को आहवनीय अग्नि बना लेती हैं और वायु को समिधा इत्यादि। और फिर जब द्यौ में पहुंचती हैं, तो द्यौ को आहवनीय अग्नि और सूर्य्य को समिधा बनाती हैं इत्यादिरूप से वहां वर्णन है। अब यहां वह कर्ता द्यौ लोक से जिस प्रकार लौटता है और जो २ रूप बनता आता है, उसका वर्णन करते हुए भी अग्निहोत्र की ही कल्पना की गई है। जैसाकि यहां लिखा है, 'असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्' इत्यादि। इसी प्रकार १३ खण्ड तक अर्थात् इस लोक में जन्म लेने रूपी फल तक पांच कल्पनाएं की हैं। यही पञ्चाग्निविद्या कहलाती है। यहां मनुष्य ने जो आहुतियें अग्नि में की हैं, उनका सूक्ष्म रूप जो कर्ता के साथ द्यौ लोक में है, उसी को श्रद्धा कहा है। उस श्रद्धा का वहां फिर होम होकर अब वह चन्द्रलोक में उतर कर नया रूप धारण करता है उसी का नाम सोम राजा है॥

पर्जन्योवा अग्नि गौतम;तस्य संवत्सरएव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति। तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥१०॥ अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम;तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रि रर्चिश्चन्द्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति। तस्या आहुत्या अन्नꣳसं भवति ११

मेघ हे गोतम! अग्नि है, बरस ही उसकी समिधा है, मेघ धूम हैं, बिजली लाट है, वज्र अङ्गारे हैं, (बिजली की) कड़कें चिंगाड़ियां हैं। इस अग्नि में देवता सोमराजा का होम करते हैं, उस आहुति से वृष्टि उत्पन्न होती है (अर्थात् वही सोमाहुति अब वृष्टिरूप में बदलती है)॥१०॥ यह लोक * हे गौतम! अग्नि है, पृथिवी ही उसकी समिधा है, अग्नि धूम है, रात्रि लाट है, चन्द्रमा अङ्गारे हैं, नक्षत्र चिंगाड़ियां हैं। इस अग्नि में देवता वृष्टि को होमते हैं, उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है (वृष्टि अन्न के रूप में बदलती है) ॥ ११ ॥

पुरुषो वा अग्निर्गौतम; तस्य व्यात्तमेव समित् प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति, तस्या आहुत्यै रेतः संभवति॥१२॥योषा वा अग्निर्गौतम;तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा

* यहां इस लोक और पृथिवी में भेद किया है। पृथिवी से केवल गोला अभिप्रेत है। और इस लोक से इसपर का सारा जीवन्त जगत्। छान्दो०उप० में यह भेद नहीं किया है, सो वहां इस लोक से पृथिवी अभिप्रेत है॥

अभिनन्दा विस्फुलिंगाः । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति । तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति । स जीवति यावज्जीवति । अथ यदा म्रियते ॥ १३ ॥

पुरुष हे गौतम ! अग्नि है, खुला हुआ मुंह ही उसकी समिधा है, मांस धूम है, वाणी लाट है, आंख अङ्गारे हैं, कान चिंगाड़ियां हैं। इस अग्नि में देवता * अन्न का होम करते हैं, उस आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है ॥१२॥ स्त्री हे गौतम ! अग्नि है।.........इस अग्नि में देवता वीर्य को होमते हैं, उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है †। वह जीता है, जब तक जीता है, फिर जब वह मर जाता है—॥१३॥

अथैनमग्नये हरन्ति । तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद् धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरंगारा अंगारा विस्फुलिंगाः विस्फुलिंगाः । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति । तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ॥१४॥

तब वे इसको (मृतक को) (चिता की) अग्नि के लिये ले जाते हैं, तब (वास्तव) अग्नि ही उसकी अग्नि होती है, समिधा समिधा, धूम धूम, लाट लाट, अङ्गारे अङ्गारे, चिंगाड़ियां चिंगाड़ियां, होती हैं । इस (चिता की) अग्नि में देवता पुरुष को होमते हैं, उस आहुति से पुरुष चमकते हुए रंग वाला बनता है ॥१४॥

ते य एवमेतद्विदुर्येचामी अरण्ये श्रद्धाᳫसत्यमुपा-

---

* यहां देवता प्राण हैं, अधिदैवत में जो इन्द्रादि देवता हैं, वही अध्यात्म में प्राण आदि हैं ॥ † चौथा प्रश्न था कि कितवीं आहुति में जल पुरुष की वाणी वाले होते हैं, उसका यह निर्णय हुआ, कि पांचवीं आहुति में वे पुरुष का शरीर आरम्भ करते हैं । वे ही जल श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीजरूप से द्यौ, पर्जन्य, यह लोक, पुरुष और स्त्रीरूपी अग्नि में होम किये हुए पुरुष का शरीर आरम्भ करते हैं ॥

सते,तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एतिमासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं । तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति । ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परः परावतो वसन्ति,तेषां न पुनरावृत्तिः

जो इस (पञ्चाग्नि विद्या) को इस प्रकार जानते हैं वह (गृहस्थ भी), और वे जो जङ्गल में श्रद्धा के साथ सत्य (हिरण्यगर्भ) को उपासते हैं.वे अर्चि (लाट) को प्राप्त होते हैं अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को,शुक्लपक्ष से उन छः महीनों को,जिनमें सूर्य उत्तर को जाता है (उत्तरायण), महीनों से देवलोक को, देवलोक से सूर्य को, सूर्य से विद्युत के स्थानों को,उन विद्युत् वासियों के पास अब एक मानस पुरुष * आता है, वह उनको ब्रह्मलोकों में ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकों में तेजस्वी बनकर लम्बे बरसों के लिये बसते हैं, उनकी पुनरावृत्ति (वापिस लौटना) नहीं है † ॥१५॥

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति,ते धूममभिसंभवन्ति,धूमाद्रात्रिᳬरात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान् दक्षिणाऽऽदित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं । ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति । ताᳬस्तत्र देवा यथा सोमᳬराजानमाप्या-

---

* ब्रह्मलोक वासी पुरुष जो ब्रह्मा ने मनसे रचा है (शंकराचार्य)

† शाखान्तर में जो यहां 'इह' शब्द है, इस से यह अभिप्राय है कि इस कल्प में वापिस नहीं लौटते, कल्प बीतने के पीछे उनकी आवृत्ति होती है (शंकराचार्य)॥

यस्वापक्षीयस्वे*त्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति,तेषां यदा तत्पर्य वैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्ते,आकाशाद्वा-युं,वायोर्वृष्टिं,वृष्टेःपृथिवीं।तेपृथिवींप्राप्यान्नंभवन्ति,तेपुनः पुरुषाऽग्नौ हूयन्ते, ततो योषाऽग्नौ जायन्ते । लोकान् प्रत्युत्थायिनः,ते एवमेवानुपरिवर्तन्ते । अथ य एतौ प-न्थानौ न विदुस्ते कीटाःपतंगा यदिदं दन्दशूकम्॥१६

अब जो लोग यज्ञ, दान और तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं (अपने भविष्यत् को सुधारते हैं) वे धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को,रात्रि से कृष्णपक्ष को,कृष्णपक्ष से उन छः महीनों को जिनमें सूर्य दक्षिण को जाता है,महीनों से पितृलोक को,पितृलोक से चन्द्र को.चन्द्र में पहुंचकर अन्न बन जाते हैं, तब उनको वहां देवता खाते हैं,(उपभोग करते हैं),जैसे(सोमयज्ञ)में ऋत्विज् सोम राजा को बार२पूर्ण करते हुए और घटाते हुए* (उपभोग करते हैं)। उन का जब वह (कर्म जो उन्होंने इस लोक में चन्द्रलोक की प्राप्ति के लिये लिये किया है) क्षीण होजाता है, तो वे फिर इसी आकाश की ओर वापिस होते हैं,आकाश से वायु को,वायु से वृष्टि को,वृष्टि से पृथिवी को। और जब वे पृथिवी पर पहुंचते हैं,तो अन्न बन जाते हैं,वे फिर पुरुष रूपी अग्नि में होम किये जाते हैं,उससे फिर वे स्त्री रूपी अग्नि में उत्पन्न होते हैं। इस तरह लोकोंकी ओर उठते हैं। वे इसीप्रकार ही चक्रलगाते हैं॥ अब जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते,वे कीड़े पतङ्गे और जो कुछ मक्खी मच्छर है(बनते हैं)†॥ १६

* 'आप्यायस्वापक्षीयस्व' यह मन्त्र नहीं, किन्तु जायस्वम्रियस्व (छान्दो० उप० ५। १०। ८) की नाईं है॥ † यहां यह निर्णय दिखलाया है, कि वानप्रस्थ और संन्यासी उत्तर मार्ग को प्राप्त होते हैं और वे गृहस्थ भी जो इस उपासना को जानते हैं। और जो गृहस्थ

तीसरा ब्राह्मण

स यः कामयते महत्प्राप्नुयामिति, उदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याह द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताऽऽज्यꣳसꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳसंनीय जुहोति। यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि, ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणीइति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳस्वाहा॥१॥

* जो यह चाहता है कि मैं महत्त्व (बड़ाई) को प्राप्त होऊं,

केवल कर्मी हैं, वे चाहे अग्निहोत्र वा दान वा तप इत्यादि किसी शुभ कर्म में रत हैं, वे दक्षिण मार्ग को जाते हैं और जो कर्म और उपासना दोनों से दूर रहे हैं, वे यहीं छोटे २ जीव जन्तुओं की योनि में पड़ते हैं। चौथे प्रश्न का उत्तर १३ खण्ड तक दिया है। पांचवें का उत्तर दक्षिण और उत्तर मार्ग की प्राप्ति के साधन बतलाने से दिया है। पहले का उत्तर यह दिया है कि अग्नि से आरम्भ करके कई आर्चि आदि का मार्ग लेते हैं और दूसरे धूम आदि का। दूसरे प्रश्न का उत्तर १६ खण्ड में आकाशादि क्रम से इस लोक को प्राप्त होते हैं इससे दिया है। तीसरे का उत्तर यह है कि कई कीट पतंग आदि को प्राप्त होते हैं और जो उस लोक में जाते हैं, वे भी फल भोगकर वापिस आते हैं, इसलिये वह लोक भर नहीं जाता है॥

* ज्ञान और कर्म की गति पूर्व कही है। उनमें से ज्ञान स्वतन्त्र है, पर कर्म के लिये धन की अपेक्षा है, और वह अयोग्य उपाय से कमाया हुआ नहीं होना चाहिये, अतएव महत्त्व की प्राप्ति के लिये मन्थ कर्म बतलाते हैं, महत्त्व का लाभ होजाने से धन का लाभ अर्थ-

वह उत्तरायण सूर्य में, शुक्लपक्ष के किसी पुण्यदिन में पहले बारह दिन उपसदों का व्रत धारण करके * गूलर (की लकड़ी) के कंस (कटोरे) वा चमसे में सब प्रकार की ओषधियें और फलों को इकट्ठा करे। (वेदि को) झाड़कर और लीपकर अग्नि को प्रज्वलित करे। (कुशा को वेदी के) चारों ओर बिछाकर विधि से घी का संस्कार करके † पुरुष (पुल्लिङ्ग) नक्षत्र में मन्थ (सारी सामग्री, ओषधियें, फल, आज्य, मधु आदि) को इकट्ठा धरके होम करता है, ‡ हे जातवेदः! तुझ में जितने टेढ़े (हमारे प्रतिकूल) देवता मनुष्य की कामनाओं को हनन करते हैं, यह भाग मैं उन के लिये होमता हूं, वे तृप्त होकर मुझे सारी कामनाओं से तृप्त करें'। स्वाहा! जो टेढ़ी देवी यह जानती हुई पड़ी है § कि मैं सब वस्तुओं को अलग २ रखनेवाली हूं, हरएक कामना के सिद्ध करने वाली उस तुझको मैं घी की धारा से पूजता हूं। स्वाहा॥ १॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति। प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्य-

सिद्ध है। इस कर्म का अधिकारी वह है, जो पूर्वोक्त रीति से प्राण का उपासक है (शंकराचार्य)॥ मन्थ कर्म छा० उप० ५। २। ४—८ और कौषी० उप० २। ३ में भी है॥ *जिस पुण्यदिन में कर्म करना हो, उससे पूर्व, किसी पुण्य दिन से ही आरम्भ करके बारह दिन उपसदों का व्रत करे अर्थात् थोड़े से दूध पर निर्वाह करे॥

† यह कर्म आवसथ्य अग्नि में किया जाता है, यहां सारा कर्म स्मार्त (स्थाली पाक विधि से) किया जाता है, न कि श्रौत। इसी लिये 'अग्निमुपसमाधाय' यहां अग्नि एकवचन है, श्रौत अग्नियें तीन होती हैं। स्मार्त एक होती है॥

‡ इन मन्त्रों की शंकराचार्य ने व्याख्या नहीं की और यह छा० उप० ५। २। ६, ४ में नहीं पाए जाते॥

§ माध्यन्दिन पाठ 'निपद्यसे' है। और यह उत्तरार्ध के अनुरूप ही है॥

ग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति। वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति। चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति। श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति। मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति। रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति ॥ २ ॥

स्वाहा, सब से बड़े के लिये, स्वाहा, सब से उत्तम के लिये, इस प्रकार अग्नि में आज्य का होम करके संस्रव (बचा हुआ घी जो चू रहा है) को मन्थ में डालता है। (फिर कहता है) स्वाहा, प्राण के लिये, स्वाहा, सब से बड़ी अमीर के लिये, इस प्रकार अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डालता है, (फिर) स्वाहा, वाणी के लिये, स्वाहा, दृढ़ स्थिति के लिये, इस प्रकार अग्नि में होमकरके संस्रव को मन्थ में डालता है। (फिर) स्वाहा, आंख के लिये, स्वाहा, सम्पदा के लिये, इस प्रकार अग्नि में होमकरके संस्रव को मन्थ में डालता है (फिर) स्वाहा, श्रोत्र के लिये, स्वाहा, घर के लिये, इस प्रकार अग्निमें होमकरके संस्रव को मन्थ में डालता है। (फिर) स्वाहा, मन के लिये, स्वाहा, आगे उत्पत्ति के लिये, इसप्रकार अग्निमें होमकरके संस्रव को मन्थमें डालता है। (फिर) स्वाहा बीजके लिये, इसप्रकार अग्निमें होमकरके संस्रव को मन्थमें डालता है* ॥२॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति। सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति।

---

* ये आहुतियें प्राण और इन्द्रियों के गुणों और नामों के साथ हैं। (देखो बृह० उप० ६। १)॥ इसी हेतु से प्राण का उपासक ही इस मन्थ कर्म का अधिकारी माना गया है॥

भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति * ॥३॥ अथैनमभिमृशति—भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥ ४ ॥

तब वह इसको (मन्थको जो प्राण के समर्पण किया गया है) स्पर्श करता है (इस मन्त्र से)–(वायु के समान) तू तेज़ है (अग्नि

---

* अग्नि=अग्नि, सोम=चन्द्र, भूः=पृथिवी, भुवः=अन्तरिक्ष, स्वः=द्यौ, ब्रह्म=ब्राह्मतेज, क्षत्र=क्षात्रबल, भूत=होचुका, भविष्यत्=होने वाला, विश्व=समष्टिजगत्, सर्व=हरएक वस्तु, प्रजापति=हरिण्यगर्भ । और सारा अर्थ मूल में ही स्पष्ट है । अर्थात्–स्वाहा, अग्नि के लिये, इस प्रकार अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डालता है । ऐसे ही सारे वाक्यों का अर्थ है । स्वाहा का अर्थ है, यह होम शुभ हो ॥

के समान) तू जल रहा है (ब्रह्म के समान) तू पूर्ण है (आकाश के समान) तू दृढ़ स्थिर है(पृथिवी के समान सब का) तू एक स्थान है। (यज्ञ के आरम्भ में प्रस्तोता से) तू 'हिं' शब्द से नमस्कार किया गया है। (यज्ञ के मध्य में प्रस्तोता से) तू 'हिं' शब्द से नमस्कार किया गया है। (यज्ञ के आरम्भ में उद्गाता से) तू गाया गया है। (यज्ञ के मध्य में उद्गाता से) तू गाया गया है। (यज्ञ के आरम्भ में अध्वर्यु से तू सुनाया गया है (प्रशंसा किया गया है) । (यज्ञ के मध्य में आग्नीध्र से) तू फिर प्रशंसा किया गया है। तू गीले (मेघ) पर चमकने वाला है। तू बड़ा है। तू समर्थ है। (सोम की नाईं) तू अन्न है, तू अन्त (मृत्यु) है। तू (सब वस्तुओं का) संवर्ग (अपने अन्दर संहार कर लेने वाला) है * ॥ ४ ॥

अथैनमुद्यच्छति—'आमꣳस्यामꣳहि ते माहि स हि राजेशानोऽधिपतिः, स माꣳराजेशानोऽधिपतिं करोतु'॥

तब वह इस (मन्थ) को ऊपर उठाता है (यह कहते हुए) † तू सब कुछ जानता है, हम तेरी बड़ाई को जानते हैं। वह (मन्थ) निःसन्देह राजा है शासन करने वाला है स्वतन्त्र मालिक है। वह राजा शासन करने वाला मुझे स्वतन्त्र मालिक बनाए ॥५॥

अथैनमाचामति—तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। भूः स्वाहा। भर्गो देवस्य धीमहि। मधुनक्त मुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा। धियो यो नःप्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्प-

---

*मन्थ की प्राणभाव से स्तुति कीगई है। सब कुछ प्राणके अधीन है। इसलिये सर्वरूप से स्तुति की है। †छा० उ० ५।२।६।६: आमं स्यामं हि ते महि—तू जानने वाला है, तेरा ज्ञान फैला हुआ है (द्विवेद गङ्ग) ॥

ति मधुमांअस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहेति। सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीः। अहमेवेदꣳसर्वं भूयासं। भूर्भुवः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति, प्रातरादित्यमुपातिष्ठते । 'दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति' । यथैतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥ ६ ॥

तब इसको खाता है(यह कहते हुए)तत्सवितुर्वरेण्यम्—ऋत को प्यार करने वाले के लिये वायु मधु (शहद) झरता है,नदियें शहद झरती हैं,सब औषधियें हमारे लिये शहद(की नाई मीठी) हों। भूः(पृथिवी) स्वाहा ॥ भर्गोदेवस्य धीमहि—रात हमारे लिये शहद हो, उषाएं (प्रभातें) हमारे लिये शहद हों, पृथिवी के ऊपर की धूलि हमारे लिये शहद हो, द्यौ जो हमारा पिता है वह हमारे लिये शहद हो । भुवः (अन्तरिक्ष) स्वाहा॥ धियो यो नःप्रचोदयात्—वनस्पति हमारे लिये शहद का भरा हुआ हो, सूर्य शहद का भरा हुआ हो। गौएं हमारे लिये शहद से भरी हुई हों। स्वः (द्यौ) स्वाहा ॥ फिर वह सारी सावित्री ऋचा और सारी मधुमती ऋचाओं को पढ़ता है (यह ध्यान करता हुआ)कि मैं ही सब कुछ होजाउं। भूर्भुवःस्वःस्वाहा। इसमे अन्तमें खाकर* हाथ धोकर अग्नि के पश्चिम की ओर पूर्व

* होम करनेके पीछे मन्थ को (जिस पर संस्रव डालागया है) चार ग्रासों में भक्षण करता है। भक्षण करने के मन्त्र 'भूः, भुवः, स्वः' ये तीन व्याहृतियें, गायत्री मन्त्र और तीनों मधुमती ऋचाएं (जन में मधु शब्द का बार २ प्रयोग है; जो ऊपर कही हैं) हैं। पहली बार गायत्री का एक पाद एक मधुमती ऋचा और एक व्याहृती पढ़ कर स्वाहा शब्द कहकर एक ग्रास भक्षण करे । दूसरी बार गायत्री का दूसरा पाद दूसरी मधुमतीऋचा और दूसरी

को सिर करके सो जाता है। प्रातःकाल(उठकर) सूर्य का उपस्थान करता है(इस मन्त्र से)'तू चारों दिशाओं का सबसे उत्तम कमल है (तेरे उदय होने पर सब दिशाएं कमल की नाईं खिल जाती हैं) मैं मनुष्यों के मध्यमें सबसे श्रेष्ठ कमल होजाऊं(मेरे उदय से सब कमल की नाईं खिलजाएं)'। जैसे(=जिस रस्ते से पहले अग्नि के पीछे)गया था वैसेही फिर लौटकर अग्नि के पीछे बैठकर वंश*का जप करता है॥६॥

त ँ हैत मुद्दालक आरुणि र्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाच अपि य एनं ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः, प्ररोहेयुः पलाशानीति' ॥ ७ ॥ एतमुहैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाच'अपि य एनं शुष्केस्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति' ॥८॥ एतमुहैव मधुकःपैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तये ऽन्ते वासिन उक्त्वोवाच 'अपि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति' ॥९॥ एतमु हैव चूलो भागवित्ति र्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाच 'अपि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति'।१०।

व्याहृति कहकर स्वाहा शब्द से भक्षण करे, तीसरी बार गायत्री का तीसरा पाद तीसरी मधुमती ऋचा और तीसरी व्याहृति कह कर भक्षण करे। चौथी बार तीनों पाद गायत्री तीनों मधुमती ऋचाएं और तीनों व्याहृतियें पढ़कर सारा भक्षण करे॥ * इस विद्या की प्राप्तिका, गुरु शिष्य परम्परा का वंश, जो नीचे दिया है॥

एतमु हैव जानकिरायःस्थूणः सत्यकामाय जाबाला-यान्तेवासिन उक्त्वोवाच 'अपि य एनꣳशुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति' ॥११॥ एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाच 'अपि य एनꣳशुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति' । तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥ १२ ॥

यह (मन्थ का रहस्य) उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को बतलाकर कहा 'यदि कोई पुरुष इस (मन्थ) को सूखी छड़ी* पर भी छिड़के, तो उस में भी शाखाएं (टहनियां) उत्पन्न होजाएं और पत्ते फूट निकलें' ॥७॥ यही (रहस्य) फिर वाजसनेय याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को बतलाकर कहा 'यदि कोई पुरुष इस (मन्थ) को सूखी छड़ी पर भी छिड़के, तो उसमेंभी शाखाएं उत्पन्न होजाएं और पत्ते फूट निकलें' ॥ ८ ॥ यही फिर मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को बतलाकर कहा 'यदि कोई मनुष्य इस को सूखी छड़ी पर भी छिड़के, तो उसमेंभी शाखाएं उत्पन्न होजाएं और पत्ते फूट निकलें' ॥ ९ ॥ यही फिर चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को बतलाकर कहा 'यदि कोई मनुष्य इसको सूखी छड़ी पर भी छिड़के, तो उस मेंभी शाखाएं उत्पन्न होजाएं और पत्ते फूट निकलें' ।१०। यही (रहस्य) फिर जानकि आय स्थूणने अपने शिष्य जाबाल सत्यकाम को बतलाकर कहा 'यदि कोई मनुष्य इसको सूखी छड़ी पर भी छिड़के, तो उसमें भी शाखाएं उत्पन्न होजाएं और पत्ते फूट निकलें' ॥११॥ यही

* जो वृक्ष सूखकर छड़ी होगया है ॥

(मन्थ रहस्य) जाबालि सत्यकाम ने अपने शिष्यों को बतलाकर कहा 'यदि कोई मनुष्य इसको सूखी छड़ी पर भी छिड़के, तो उसमें भी शाखाएं उत्पन्न होजाएं और पत्ते फूट निकलें' यह (मन्थ कर्म का रहस्य) अपने पुत्र वा अपने शिष्य * के सिवाय किसी को नहीं बतलाना चाहिये ॥ १२ ॥

चतुरौदुम्बरो भवति, औदुम्बरःस्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्यां उपमन्थन्यौ। दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति, व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च। तान् पिष्टान् दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥१३॥

(इस मन्थ कर्म में) चार वस्तुएं गूलर की लकड़ी की होती हैं, गूलर का स्रुवा, गूलर का चमसा, गूलर की समिधा और गूलर की दो उपमन्थनियें (रगड़ने वाली चूर्ण बनाने वाली लकड़ियें)। गाओं के दस अनाज होते हैं (इस कर्म में लिये जाते हैं) अर्थात् चावल और जौ, तिल और माष, बाजरा और कंगनी, गेहूं, मसूर, बल और कुलथ †। इनको पीसकर इन पर दही शहद और घी छिड़कता है। तब आज्य (पिघले हुए घी) का होम करता है ॥ १३ ॥

चौथा ब्राह्मण ‡

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपोऽ

---

* इस विद्या के लिये पात्र केवल दो ही हैं, पुत्र वा अन्तेवासी। अन्तेवासी उस शिष्य से अभिप्राय है, जिसने गुरु के पास कुछ देर वास किया है। (मिलाओ श्वेता० उप० ६ । २२ से)॥ † ये दस अनाज अवश्य होने चाहियें, इनसे भिन्न यथाशक्ति सब ओषधियें और फल जो यज्ञ के अयोग्य नहीं, लिये जाते हैं देखो ६ । १ का नोट॥

‡ यह ब्राह्मण यहां इस लिये प्रविष्ट किया गया है, कि भी

पामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि, पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥

पृथिवी इन सब भूतों का सार है, पृथिवी का सार जल है, जलों का सार ओषधियें हैं, ओषधियों का सार फूल हैं, फूलों का सार फल हैं, फलों का सार पुरुष है, पुरुष का सार बीज है * ॥१॥

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे, हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति, स स्त्रियꣳससृजे । ताꣳसृष्ट्वाऽधउपास्त, तस्मात् स्त्रियमधउपासीत । स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्, तेनैना मभ्यसृजत् ॥२॥ तस्या वेदिरुपस्थो, लोमानि बर्हिश्, चर्माधिषवणे, समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ । स यावन् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति, तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरति, आसाꣳस्त्रीणाꣳसुकृतं वृङ्क्ते, अथ य इदमविद्वानोपहासं चरत्याऽऽस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥३॥ एतद्धस्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्धस्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्धस्म वै तद् विद्वान् कुमारहारित आह, बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात् प्रयन्ति य इदमविद्वाꣳसोऽधोपहासं चरन्तीति । बहु वा इदꣳसुप्तस्य वा

मन्थकर्म और पुत्रकर्म में परस्पर मेल है । जिसने श्रीमन्थ कर्म किया है, वही पुत्रमन्थ कर्म में अधिकारी है। 'श्रीमन्थ करने के पीछे वह पुत्रमन्थ कर्म के लिये पत्नी के ऋतु काल की प्रतिक्षा करे ॥

* इस चौथे ब्राह्मण का विषय, तो उपनिषद् से निराला ही है, और इस में क्या गौरव दिखलाया है, यह भी, मेरी समझ में कुछ नहीं आया ॥

जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति॥४॥तदभिमृशेदनुवामन्त्रयेत,'यन्मेऽद्यरेतः पृथिवी मस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः। इदमहं तद्रेत आददे। पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्ताम्' इत्यनामिकाऽङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥ ५ ॥

प्रजापति ने सोचा, अहो इसके लिये पक्की स्थिति (जिसमे यह जगत में बना रहे) बनाऊं, उसने स्त्री को उत्पन्न किया * ॥

---

* 'तां सृष्ट्वा' इत्यादि से यथाविधि पुत्रोत्पत्ति के कर्म को वाजपेय यज्ञ के सदृश बतलाया है और अन्तमें पुत्रोत्पत्ति के कर्म के विना रेतः स्कन्दन में प्रायश्चित बतलाने से अमोघवीर्य्य रहने का उपदेश दिया है। रहस्य होने से अक्षरार्थ स्पष्ट करके संस्कृत में लिखते हैं, तां च सृष्ट्वाऽधउपास्त=मैथुनाख्यं कर्म अध उपासनं कृतवान्। तस्माद्धेतोः स्त्रियं अध उपासीत । (इदानीमधउपासनाख्यकर्मणो वाजपेयेन साम्यं प्रकटयति) स एतं प्राञ्चं ग्रावाणं=सोमाभिषवोपलस्थानीयं प्रजननेन्द्रियं उत्पूरितवान् स्त्रीव्यञ्जनं प्रति,तेन एनां स्त्रियं अभ्यसृजत=अभिससर्गं कृतवान् ॥२॥ तस्या उपस्थो वेदिः (वेदिस्थानीयःवेदितव्यः)एवं लोमानि दर्भः,मुष्कौ अधिषवणफलके,रहस्य देशस्य चर्म अधिषवणाधार भूतं चर्म, समिद्धो अग्निर्मध्यतःस्त्रीव्यञ्जनस्य। (ध्यानमुक्त्वा इदानीं वाजपेयतुल्यं फलं दर्शयति स्तुत्यै,तस्मादधोपहासकर्मणो बीभत्सा न कार्येति तात्पर्य्यम्)। य एवं विद्वान् अधोपहासं चरति, अस्य तावान् लोको भवति, यावान् वाजपेयेन यजमानस्य भवति। आसां च स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्ते=आवर्जयति=वशी कुरुते। अथ य इदमविद्वान् अधोपहासं चरति, अस्य सुकृतं स्त्रियः आवृञ्जते=वशी कुर्वन्ति ॥३॥ (अविदुषामतिगर्हितमिदं कर्मेत्यत्राचार्य्य परंपरा सम्मति माह) एतद् अधोपहासाख्यं मैथुनकर्म वाजपेयेन संपन्नं विद्वांसः उद्दालक आरुणिः नाको मौद्गल्यः कुमार-

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्, तदभिमन्त्रयेत 'मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳसुकृतम्' इति । श्रीर्हवा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६ ॥

अब यदि वह (जिसने पुत्रमन्थ कर्म करना है) पानी में अपनी छाया देखे, तो वह यह मन्त्र पढ़े। 'मुझमें तेज हो, शक्ति हो, यश हो, धन हो और नेकी हो' ॥ स्त्रियों में से यह श्री है, जिसके वस्त्र शुद्ध हैं * । इसलिये शुद्ध वस्त्रों वाली (ऋतु स्नाता) यश वाली (अपनी धर्म पत्नी) के पास जाए और (उसे अपना अभिप्राय) बतलाए ॥ ६ ॥

हारितश्चाहु: 'बहवो मनुष्या ब्राह्मणायना:=ब्राह्मणा अयनं येषां ते ब्राह्मणायना ब्रह्मबन्धवो जातिमात्रोपजीविनः। निरिन्द्रिया विसुकृतश्च सन्तोऽस्माल्लोकात् प्रयन्ति । के । ये इदं रहस्यं अविद्वांसोऽधोपहासं चरन्ति इति । (इदमविद्वांसो मैथुनकर्मासक्ताः परलोकात् परि भ्रश्यन्ते इति मैथुनकर्मणोऽत्यन्तपापहेतुत्वं दर्शयति) ॥

प्राणोपासकस्य श्रीमन्थकर्म कृतवतोऽधोपहासरहस्यविदोऽमोघवीर्यत्वाद् वृथा रेतः स्कन्दने प्रायश्चित्तं दर्शयति—यद् इदं रेतः स्कन्दति बहु वा अल्पं वा सुप्तस्य वा रागप्राबल्याद् अन्यस्माद्वा कस्माच्चिद् दोषात् ॥ ४ ॥ तद्रेतः अभिमृशेद् अनुमन्त्रयेद्वा । यदाऽभिमृशति तदा ' यन्मेऽद्य ········आददे' इत्यनेन मन्त्रेणा नामिकाऽङ्गुष्ठाभ्यां तद्रेत आदत्ते । 'आदायच पुनर्मां ·········कल्पन्ताम्' इत्यनेन मन्त्रेण भ्रुवोः स्तनयो र्वामध्ये निमृज्यात् । मन्त्रयोरर्थस्तु= 'अद्य अप्राप्तकाले मम यद् रेतः पृथिवीं प्रति अस्कान्त्सीत्, यद् ओषधीः प्रत्यपि अगमद्, अपः प्रति अगमत्, तदिदं रेतःसम्प्रति आददेऽहं' इत्यादानमन्त्रार्थः । अथ मार्जन मन्त्रार्थः=रेतोरूपेण बहिर्निर्गतं मम इन्द्रियं=प्राबल्यं पुनर्मां एतु (मां प्रति समागच्छतु) तेजः= त्वग्गता कान्तिः पुनर्मामेतु। भगः=सौभाग्यं पुनर्मामेतु। अग्निर्धिष्ण्याः अग्निस्थानाः देवाः तद्रेतो यथास्थानं कल्पयन्तु इति ॥ ५ ॥

* अर्थात् जिसने तीन दिन व्रतिनी रहकर ऋतु दर्शन से चौथे दिन शुद्ध वस्त्र धारण किये हैं ॥

सा चेदस्मै न दद्यात्, काममेनामवक्रीणीयात्। सा चेदस्मै नैव दद्यात्,काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेद् 'इन्द्रियेण ते यशसा यश आददे' इत्ययशा एव भवति॥७॥सा चेदस्मै दद्याद् 'इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामि' इति। यशस्विनावेव भवतः॥८॥

वह(पत्नी)यदि इस बातको पसन्द न करे,तो चाहे इस(स्त्री)को (कुछ भूषण आदि)देकर प्रसन्न करे,वह यदि फिरभी नापसंद करे, तो चाहे इसको छड़ी से वा हाथसे ताड़कर आधीन करके पास जाए* (यह कहता हुआ) 'इन्द्रियरूपी यश से तेरे यश को खींचता हूं'। तब वह स्त्री बिना यश के होती है॥ ७॥ यदि वह इसको पसन्द करे, (तब यह कहता हुआ पास जाए) 'इन्द्रिय रूपी यश से तेरे यश को स्थापन करता हूं' वे दोनों यश वाले बनते हैं॥८॥

स यामिच्छेत् 'कामयेत मेति' तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳसंधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेद् 'अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधि जायसे। स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयि' इति॥९॥ अथ यामिच्छेद् गर्भं दधीतेति। तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ सन्धायाभिप्राण्यापान्याद् 'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे' इति। अरेता एव भवति॥१०॥ अथ यामिच्छेद् 'दधीतेति'। तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳसन्धायापान्याभिप्राण्याद् 'इन्द्रियेण ते रेतसा

---

*[illegible] मैथुनायां दुर्भगा वन्ध्या=उस समय गर्भ नहीं धारेगी

रेत आदधामि' इति । गर्भिण्येव भवति * ॥११॥

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्, तं चेद् द्विष्याद्, आमपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳशरबर्हिः स्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयाद् 'मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसौ' इति । 'मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददेऽसौ' इति । मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसौ' इति । 'मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसौ' इति । स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात् प्रैति, य

---

* इन तीन कण्डिकाओं का अर्थ भी संस्कृत में लिखते हैं। इस ९ वीं कण्डिका का विषय यह है, कि यदि स्त्री अपने पति से द्वेष रखती हो, तो इस कर्म से पति में प्रीति रखने वाली बन जायेगी, 'स भर्ता यां भार्यां इच्छेत्, यद् इयं मां कामयेत इति । तदा स संभोगकाले तस्यां भार्यायां प्रजननेन्द्रियं निक्षिप्य मुखेन मुखं मेलयित्वा अस्या उपस्थं अभिमृश्य इमं मन्त्रं जपेत् ' हे रेतः त्वं मम अङ्गात् अङ्गात् समुत्पद्यसे विशेषतश्च हृदयात् अतस्तद्द्वारेण जायसे सः त्वं अङ्गानां रसः सन् इमां अमुकनाम्नीं मदीयां स्त्रियं विषलिप्तेन वाणेन विद्धां मृगीमिव मद्वशां कुरु ॥ ९ ॥ (इदानीं भर्तुरभिप्राय विशेषेण विधिविशेषं दर्शयति)स भर्ता यदि इच्छेत इयं गर्भंनधारयेद् इति तदा स संभोगकाले तस्यां प्रजननेन्द्रियं निक्षिप्य मुखेन मुखं मेलयित्वा प्रथमं प्रजननेन्द्रियद्वारा तदीय स्त्रीत्वे वायुं विसृज्य पुनस्तेनैव द्वारेण वायोरादानं कुर्यात् इमं मन्त्रं जपन् 'इन्द्रियेण रेतसा ते रेतः आददे' इति । तदा सा गर्भिणी न भवति ॥१०॥ स यदि इच्छेत् इयं गर्भं धारयेद् इति । तदा स तस्यां प्रजननेन्द्रियं निक्षिप्य मुखेन मुखं मेलयित्वा प्रथमं स्वीयप्रजननेन्द्रियेण तदीयप्रजननेन्द्रियात्, वायुमादाय पुनः तेनैव द्वारेण विसृजेद् इमं मन्त्रं पठन् 'इन्द्रियेण ते रेतसा रेतः आदधामि' इति । तदा सा गर्भिणी एव भवति ॥ ११ ॥

मेवंविद् ब्राह्मणः शपति । तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुतह्येवंवित्परो भवति ॥ १२ ॥

अब जिसकी स्त्री का उपपति (जार) हो, और यदि (पति) उसको द्वेष करे, तो कच्चे पात्र में (आवसथ्य) अग्नि को प्रज्वलित करके कुशा की जगह सरकण्डे उलटे (अर्थात् पश्चिम की ओर अग्रवाले वा दक्षिण की ओर अग्रवाले) बिछाकर (तीन) सरकण्डे की तीलों को घी से चुपड़कर उलटे(अन्दर की ओर सिर) रखकर उनका होम करे (यह कहते हुए) 'मेरी प्रज्वलित (योपाग्नि) में तूने होम किया है, मैं तेरे प्राण और अपान को लेता हूं, हे अमुक'* ! 'मेरी प्रज्वलित अग्नि में तूने होम किया है, मैं तेरे यज्ञ और पुण्य (श्रौत और स्मार्त कर्म) को लेता हूं,हे अमुक' मेरी प्रज्वलित अग्नि में तूने होम किया है, मैं तेरी आशा और प्रत्याशा को लेता हूं, हे अमुक ॥ इस क्रिया को जानने वाला ब्राह्मण जिसको इस प्रकार शाप देता है,वह शक्ति हीन और पुण्य हीन होकर इस लोक से चलता है, इसलिये ऐसा जानने वाला पुरुष, श्रोत्रिय (वेद जानने वाले) की पत्नी से उपहास भी न चाहे (क्या फिर अधोपहास) क्योंकि ऐसा जानने वाला (शत्रु) बड़ा भयानक शत्रु होता है † ॥ १२ ॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत् ,त्र्यहं कंऽसेन पिबेदहतवासाः । नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात् । त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥१३॥स य इच्छेत्, पुत्रो मे शुक्लो जायेत,वेदमनु ब्रुवीत,सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जन-

---

* 'असौ=अमुक' की जगह शत्रु का नाम ग्रहण करे; शत्रु का वा अपना नाम ग्रहण करे (आनन्दगिरि और द्विवेदगङ्ग) ॥

† देखो पारस्कर गृह्य १ । ११ ॥

यितवै ॥१४॥ अथ य इच्छेत्, पुत्रो मे कपिलः पिंगलो जायेत, द्वौ वेदावनुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति, दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै १५

अब जब उसकी पत्नी ऋतुमती हो, तो वह तीन दिन धात के वर्तन में (पानी) न पिये और नए वस्त्र पहने । उसको शूद्र पुरुष वा शूद्रा स्त्री स्पर्श न करे । तीन दिन पीछे जब न्हा चुके, तो उससे धान छड़वाए * ॥१३॥ अब जो चाहे, कि मेरे पुत्र शुक्लवर्ण का उत्पन्न हो, एक वेद को जाने और पूरी आयु (सौ वर्ष) भोगे, तब वे दोनों (दम्पती) चावल पकाकर दूध और घी डालकर खाएं, तो वे (ऐसा पुत्र जनने के) समर्थ होंगे ॥१४॥ और जो यह चाहे, कि मेरे पुत्र कपिल वर्ण (कैरे रंगका) और भूरीं आंखों वाला हो, दो वेदों को जाने और पूरी आयु भोगे, तब वे दोनों चावल पकाकर दही और घी डालकर खाएं, तो वे (ऐसा पुत्र जनने के) समर्थ होंगे ॥१५॥

अथ य इच्छेत्, पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत, त्रीन् वेदाननुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति, उदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१६॥

और जो यह चाहे, कि मेरे पुत्र श्यामवर्ण और लाल आंखोंवाला हो, तीन वेदों को जाने, और पूरी आयु भोगे, तब वे दोनों खाली पानी में चावल पकाकर घी डालकर खाएं, तो वे (ऐसा पुत्र जनने के) समर्थ होंगे ॥ १६ ॥

अथ य इच्छेद्, दुहिता मे पण्डिता जायेत, सर्वमायुरियादिति, तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१७॥ अथ य इच्छेत्, पुत्रो मे प-

* नीचे जो कर्म दिया है, उस की विधि के लिये ॥

ण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत, सर्वान् वेदाननुब्रुवीत सर्वमायु रियादिति, माꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा ॥ १८ ॥

और जो यह चाहे, कि मेरे कन्या पण्डिता हो और पूरी आयु भोगे, तब वे दोनों तिल चावल पकाकर घी डालकर खाएं, तो वे (ऐसी कन्या जनने के) समर्थ होंगे ॥ १७ ॥ और जो यह चाहे, कि मेरे पुत्र पण्डित, प्रख्यात, सभा में जाने वाला (सब की भलाई के कामों में सम्मिलित होने वाला (public man), जिस को लोग सुनना चाहें, ऐसी वाणी बोलने वाला (प्रसिद्ध वक्ता) उत्पन्न हो, सारे वेदों को जाने, और पूरी आयु भोगे, तो वे दोनों (दम्पती) औक्ष वा आर्षभ से मांसौदन पकाकर घी डालकर खाएं, तो वे (ऐसी सन्तान उत्पन्न करने के) समर्थ होंगे ॥ १८ ॥

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकाऽऽवृताऽऽज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोति—'अग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति' हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति,प्राश्ये तरस्याः प्रयच्छति। प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षति—'उत्तिष्ठाऽतो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह' इति ॥१९

*अब प्रातःकाल ही (उन छड़े हुए चावलों को लेकर) स्थालीपाक की विधि से (=गृह्य विधि से) आज्य (घी) का संस्कार करके (और चरु को पकाकर) स्थालीपाक को काट २ कर होमता है (यह कहते हुए)—'यह अग्नि के लिये है। स्वाहा! यह अनुमति के

* पूर्व कहे हुए चावलों के बनाने और खाने का समय कहते हैं॥

के लिये है, स्वाहा! यह सच्ची प्रेरणा वाले सविता देव के लिये है, स्वाहा! इस प्रकार होमकर (बचे हुए चरु को) निकालकर खाता है, और आप खाकरके फिर अपनी स्त्री को देता है। और आप हाथ धोकर जलका पात्र(पानीसे)भरकर उस(पानी)से तीनबार इस(पत्नी) को छिड़कता है (यह कहते हुए*)—'हे विश्वावसो†! यहां से उठ, अब और नई युवति ढूंढ, पत्नी को अपने पति के साथ मिला‡॥१९

अथैनामभिपद्यते—'अमोऽहमस्मि सा त्वꣳसा त्वमस्यमोऽहं, सामाऽहमस्मि ऋक् त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वं, तावेहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तये' इति

अब वह (गर्भाधान करने लगा, पहले) इसको कण्ठ लगाता है (यह कहते हुए) 'मैं प्राण हूं, तू वाणी है§। तू वाणी है, मैं प्राण हूं। मैं साम हूं, तू ऋचा है॥। मैं द्यौ हूं, तू पृथिवी है¶। आ, हम दोनों उद्योग करें, मिलकर बीज स्थापन करें, एक नर बच्चे के पाने के लिये' ** ॥ २० ॥

संगति—अब गर्भ स्थापन की विधि बतलाते हैं:—

अथास्या ऊरू विहापयति 'विजिहीथां द्यावापृथिवी' इति। तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳसंधाय त्रिरेनाम-

---

* मन्त्र एक ही बार उच्चारण किया जाता है॥ † देखो ऋग्वेद १०।८५।२२॥ ‡ हे विश्वावसो गन्धर्व तू इस (मेरी पत्नी) के पास से उठ, अब दूसरी स्त्री जो युवति है और पति के साथ क्रीड़ा कर रही है, उसको ढूंढ इस अपनी पत्नी को अब मैं प्राप्त होता हूं (द्विवेदगङ्ग और आनन्दगिरि)॥ § क्योंकि वाणी प्राण के सहारे है, जैसा स्त्री पति के (देखो छान्दोग्य उप० १।६।१)॥ ॥ क्योंकि साम ऋचा के सहारे गाया जाता है॥ ¶ द्यौ पृथिवी सारे जगत् के पिता और माता है॥

**यह मन्त्र पाठभेद से अन्यत्र भी उद्धृत और व्याख्यात हुआ है। अथर्व वेद १४।७१ 'अमोऽहमस्मि सा त्वं, सामाऽहमस्म्यृक् त्वं

नुलोमामनुमार्ष्टि 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ २१ ॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये। यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसौ' इति ❀ ॥ २२ ॥ सोष्यन्तीमद्भिर-

---

द्यौरहं पृथिवी त्वं; ताविह संभवाव प्रजामाजनयावहै' यहां 'अमः' 'सा' के प्रतियोग में है और ऐतरेय ब्राह्मण ८।२७ में 'अमोहमस्मि स त्वं' यह 'अमः' 'सः' के प्रतियोग में है। छान्दोग्य उप० १।६ में 'सा' से 'पृथिवी' और 'अम' से अग्नि आदि अर्थ लिये हैं। और ऐतरेय ब्राह्मण में 'सा' से ऋक् और 'अम' से साम अर्थ लिये हैं॥

❀ इस का अर्थ भी संस्कृत में ही देते हैं—अथास्या पत्न्या ऊरू विश्लेषयति 'विजिहीथां द्यावापृथिवी' इत्यनेन मन्त्रेण। अत्र द्यावापृथिवी इति ऊर्वोः संबोधनं, हे द्यावापृथिवी युवां विश्लिष्टे भवतम इति। अथ तस्यां प्रजननेन्द्रियं स्थापयित्वा मुखेन मुखं संमेल्य त्रिरनामनुलोमां मूर्धानमारभ्य पादान्तं अनुमार्ष्टि। विष्णुर्योनिमित्यादि प्रतिमन्त्रम्। 'विष्णुः योनिं पुत्रोत्पत्तिसमर्थां करोतु। त्वष्टा देवः तवरूपाणि पिंशतु=विभागेन दर्शन योग्यानि करोतु। प्रजापतिः (विराडंशो विराडहं) (त्वयि रेतः) आसिञ्चतु। धाता (सूत्रात्मा) ते गर्भं दधातु। हे सिनीवालि पृथुष्टुके=विस्तीर्णस्तुते गर्भं धेहि पुष्करस्रजौ अश्विनौ देवौ ते गर्भमाधत्ताम् ॥ २१ ॥

ज्योतिर्मय्यौ द्वौ अरणी प्रागासतुः, याभ्यां गर्भमश्विनौ निर्मथितवन्तौ। तं तथाभूतं गर्भं ते जठरे हवामहे दशमे मासि प्रसवार्थं यथा पृथिवी अग्निगर्भा वर्तते। यथा वा द्यौरिन्द्रेण सूर्येण गर्भभूतेन गर्भिणी। यथा वा वायु र्दिशां गर्भःएवं ते गर्भं दधामि,असौ इति तस्या नाम गृह्णाति॥ (माध्यन्दिनपाठ अश्विनौ की जगह अश्विनौ

भ्युक्षति । 'यथा वायुः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भ एजतु सहाऽवैतु जरायुणा । इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः । तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराᳪसह' इति ॥ २३ ॥

प्रसूत होती हुई को (आसानी से जनने के लिये) जल से छिड़कता है (यह कहते हुए) 'जैसे वायु पुष्करिणी (जोहड़) को चारों ओर से चलाता है । इसी प्रकार तेरा गर्भ चले और जरायु के साथ बाहर आवे । इन्द्र (प्राण) का यह मार्ग बनाया गया है जो अर्गल के और लपेट * (जेर) के साथ है । हे इन्द्र तू उस गर्भ के साथ और मांस की पेशी † के साथ बाहर आ ॥२३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कᳪसे पृषदाज्यᳪसंनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोति—'अस्मिन् सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे । अस्योपसन्द्यां माच्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा । मयि प्राणाᳪस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा । यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद् विद्वान् स्विष्टᳪसुहुतं करोतु नः स्वाहा' इति ॥ २४ ॥ अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधि मधु घृतᳪसंनीयानन्त-

देखो, 'हवामहे' की जगह 'दधामहे' और असाविति की जगह 'असाविति नाम गृह्णाति' है । अन्त के वाक्य का (द्विवेदगङ्ग यह अर्थ करता है कि पति अपना नाम लेता है वा पत्नी का नाम लेता है)२२

* अर्गल=अरल । अभिप्राय रुकावट से है, जो प्रसव काल से पहले गर्भ के बाहर आने में है ॥

† गर्भ बाहर आने के पीछे जो मांस की पेशी (बोटी) निकलती है ॥

हितेन जातरूपेण प्राशयति। 'भूस्ते दधामि, भुवस्ते दधामि, स्वस्ते दधामि, भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि इति'॥२५॥ अथास्य नाम करोति, 'वेदोऽसि' इति। तदस्य तद् गुह्यमेव नाम भवति ॥ २६ ॥

* (अब जातकर्म कहते हैं) जब बच्चा जन्मता है, तब (पिता) अग्नि को प्रज्वलित करके और (बच्चे को) गोद में लेकर धात के बर्तन में पृषदाज्य (घी से मिला हुआ दही) को इकट्ठा करके पृषदाज्य का छोटा २ टुकड़ा अलग करके होमता है (यह कहते हुए)—'इस अपने घर में बढ़ता हुआ, मैं हज़ार गुणा पुष्ट होऊं। इस (मेरे पुत्र) की सन्तति में, सन्तान और पशुओं समेत श्री (लक्ष्मी) कभी विच्छिन्न न हो, स्वाहा' 'मुझ (पिता) में जो प्राण हैं, उनको तुझ (पुत्र) में समर्पण करता हूं, स्वाहा' '†' जो कुछ मैंने अपने कर्म में अधिक किया है, अथवा जो कुछ न्यून किया है, स्विष्टकृत् अग्नि उसे हमारे लिये स्विष्ट (ठीक यजन किया हुआ) और सुहुत (ठीक होमा हुआ) बनावे, स्वाहा' ॥२४॥

तब (अपना मुंह) इस बच्चे के दाएं कान के पास रखकर तीन

---

* ये और इससे पहिले की विधियें प्रायःगृह्यसूत्रों में पाई जाती हैं। देखो आश्वलायनगृह्य सूत्र १। १३; पारस्कर गृह्य सूत्र १। ११; शाङ्खायन गृह्य सूत्र १। १९॥ आश्वलायन १। १३ में यह स्पष्ट कहा है कि गर्भलंभन, पुंसवन और अनवलोभन ये उपनिषद् में पाए जाते हैं। इस पर गार्ग्य नारायण ने कहा है कि ये किसी उपनिषद् में पाए जाते हैं, पर ये हमारी शाखा में नहीं। और फिर आगे लिखा है कि गर्भाधानादि आचार्य्य ने नहीं कहे, इस लिये नहीं करने चाहियें, यह कई कहते हैं, और दूसरे कहते हैं कि शौनक आदि के कहे मार्ग से कर लेने चाहियें॥

† आश्वलायन गृह्य सूत्र १। १०। २२॥

वार वाणी वाणी* (कहता है) तब दही शहद और घी को इकट्ठा करके शुद्ध (खालिस) सोने (की सलाई) से † चटाता है। (यह कहते हुए)। 'भूः को तुझमें स्थापन करता हूं, भुवः को तुझमें स्थापन करता हूं, स्वः को तुझ में स्थापन करता हूं‡, भू भुवः स्वः सब तुझ में स्थापन करता हूं§ ॥२५॥ ॥ तब वह इसको नाम देता है (कहते हुए) 'तू वेद है'। सो इसका गुह्य नाम होता है ॥२६॥

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति। 'यस्ते स्तनःशशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेकः' इति॥२७॥

---

* वेद (ऋचा, यजु सामरूप मन्त्रमयी) वाणी तुझ में प्रवेश करे, यह जप का अभिप्राय है॥ † सोने से ढपी हुई अनामिका (दूसरी) अंगुलि से। पारस्कर गृह्य सूत्र १।१६।४; सोने से चटाए, शाङ्खायन गृह्य सूत्र १।२४॥ ‡ द्विवेदगङ्ग ने भूः, भुवः, स्वः, से ऋग्वेद, यजुर्वेद और साम वेद से अभिप्राय लिया है॥

§ माध्यन्दिन पाठ में यहां एक मन्त्र अधिक है, जो पिता पढ़ता है, जब वह पुत्र के कंधों को छूता है 'अश्मा भव, परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम्' पत्थर होजा कुल्हाड़ा होजा, शुद्ध सोना होजा। तू मेरा अपना आप है पुत्र नाम रखता हुआ, तू सौ बरस जी'। यही मन्त्र आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१५।३ में भी है। ॥ दो कर्म यहां बतलाए गए हैं। आयुष्य कर्म्म और मेधा जनन। यहां वे कुछ मिले जुले हैं। पारस्कर गृह्य सूत्र १।१६।३ में मेधाजनन और आयुष्य को अलग २ बतलाया है। वहां मेधाजनन को पहले बतलाया है, जब पिता बच्चे को शहद और घी चटाता है, 'भूस्त्वयि दधामि' इत्यादि से। और आयुष्य कर्म्म में बच्चे की दीर्घ आयु की कामना से। पिता बच्चे के कान में एक ही मन्त्र को बार २ दुहराता है। आश्वलायन १।१५।१ में आयुष्य और १।१५।२ में मेधाजनन कहा है। शाङ्खायन १।२४ में पहले आयुष्य और फिर मेधाजनन को बतलाया है। माध्यन्दिनीय बृहदारण्यक उपनिषद् में भी यही क्रम है॥

तब वह बच्चे को (उसकी) माता के पास देकर(उसको)स्तन देता है, (कहते हुए) 'हे सरस्वति ! जो तेरा स्तन अनखुट्ट,सुखमय, रत्नों के देने वाला,धन देने वाला और जो बड़ा दाता है। जिससे तू सब भलाइयों को पुष्ट करती है,उसको तू यहां पीने के लिये बना'*

अथाऽस्य मातरमभिमन्त्रयते-'इलाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्। सा त्वं वीरवती भवयाऽस्मान् वीरवतोऽकरद्' इति। तं वा एत माहुरतिपिताबताऽभूरतिपितामहो बता भूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रोजायते'इति

तब इसकी माता को सम्बोधन करता है—'तू इला है मैत्रावरुणी, हे वीरे ! तू ने वीर को जन्म दिया है। सो तू वीर पुत्रों वाली हो, जिसने हमें वीर बच्चों वाला बनाया है' †। और वे ऐसे

---

* ऋग्वेद १। १६४। ४९॥

† इस मन्त्र की व्याख्या में व्याख्याकारों का परस्पर भेद है। आनन्दगिरि लिखता है इला=स्तुत्या=भोग्या=स्तुतिके योग्य,भोग के योग्य। और मैत्रावरुणी है अर्थात् अरुन्धती की न्याईं है,क्योंकि मित्र और वरुण का पुत्र मैत्रावरुण=वसिष्ठ और उसकी पत्नी मैत्रावरुणी-अरुन्धती। द्विवेदगङ्ग=कहता है, इडा का अर्थ भोग्या या इडापात्री या पृथिवीरूपा है और यह मैत्रावरुणी इस लिये है कि मित्रावरुण से उत्पन्न हुई है। वीरे को द्विवेदगङ्ग ने सम्बोधन माना है और आनन्दगिरि सप्तमी मानकर 'मयि निमित्तभूते' यह साथ जोड देता है। सम्बोधन पक्ष में अजीजनत् की जगह अजीजन: पाठ अपेक्षित है जो पाठान्तर रूप में पाया जाता है माध्यन्दिन पाठ 'अजीजनथा:' है। यह व्याकरण की रीति से शुद्ध है। पर इस पाठ में छन्दोभङ्ग होता है। और यदि हम अजीजन: पाठ को स्वीकार करें तो हमें अकरत् की जगह भी 'अकर:' पढ़ना चाहिये। या आनन्दगिरि के अनुसार 'भवती' के अध्याहार से पाठ निबाहना चाहिये॥

बच्चे के विषयमें कहते हैं—'अहो यह पिता से बढ़कर हुआ है, अहो यह पितामह (दादा) से बढ़कर हुआ है। श्री से यश से और ब्रह्म वर्चस से, वह सब से ऊंचे पद को पहुंचा है, जो यह इस (रहस्य) के जानने वाले ब्राह्मण के (घर में) पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥ २८ ॥

पांचवां ब्राह्मण

अथ वꣳशः । पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनी पुत्रात् कात्यायनी पुत्रो गौतमी पुत्राद्, गौतमीपुत्रो भारद्वाजी पुत्राद्, भारद्वाजीपुत्रः पाराशरी पुत्रात, पाराशरी पुत्र औपस्वस्तीपुत्राद्, औपस्वस्तीपुत्रःपाराशरीपुत्रात्, पाराशरीपुत्रः कात्यायनी पुत्रात, कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्, कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च, वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राचकापीपुत्राच्च, कापीपुत्रः ॥ १ ॥ आत्रेयीपुत्राद्, आत्रेयीपुत्रो गौतमी पुत्राद, गौतमी पुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्, भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात, पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्, वात्सीपुत्रः पाराशरीतुत्रात्, पाराशरीपुत्रो वार्कारुणी पुत्राद् वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्, वार्कारुणी पुत्रः आर्तभागीपुत्राद्,आर्तभागीपुत्रःशौङ्गीपुत्रात्,शौङ्गी पुत्रःसांकृतीपुत्रात्, सांकृतिपुत्र आलम्बायनीपुत्राद्, आलम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्राद्,आलम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनी पुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिली पुत्राच्छाण्डिली पुत्रो राथीतरीपुत्राद् राथीतरीपुत्रो भालुकी पुत्राद् भा-

लुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृती-पुत्राद् वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयी पुत्रात् कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगी पुत्रात्,प्राचीनयोगीपुत्रःसांजीवीपुत्रात्, सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥ २ ॥ याज्ञव-ल्क्याद् याज्ञयवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशे रुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्ययोगाज्जिह्वावान् बाध्ययोगोऽसिताद् वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात् कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात् कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नै ध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादि-त्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाऽऽख्यायन्ते।३॥समानमासांजीवीपुत्रात् सांजीवीपुत्रो माण्डूकायने र्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौ-त्सात् कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद् वाम-कक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद् वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद् यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात् कावषेयात् तुरः कावषेय प्रजा-पतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणोब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥४॥

* अब वंश † (कहते हैं) (१) पौतिमाषी-पुत्र ने कात्यायनी—

---

* माध्यान्दिन वंश में सब से पाहिले वयम्=हम, है, और आचार्यों के नामों में भी कुछ भेद है ॥ † यह वंश सारे ब्राह्मण प्रवचन का है (निरा खिल काण्ड का नहीं) [शंकराचार्य्य] ॥

पुत्र से * (२) कासायनी पुत्र ने गौतमी के पुत्र से (३) गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से (४) भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से (५) पाराशरी पुत्र ने औपस्वस्ती पुत्र से (६) औपस्वस्ती पुत्र ने पाराशरी पुत्र से (७) पाराशरी पुत्र ने कासायनी पुत्र से (८) कासायनी पुत्र ने कौशिकी पुत्र से (९)कौशिकी पुत्र ने आलम्वी पुत्र से और वैयाघ्रपदी पुत्र से(१०)वैयाघ्रपदी पुत्र ने काण्वी पुत्रसे और काण्वी पुत्र से(११)कापीपुत्रने आत्रेयी पुत्र से(१२)आत्रेयी पुत्र ने गोतमी पुत्र से (१३) गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से (१४) भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से (१५) पाराशरी पुत्र ने वात्सी पुत्र से (१६) वात्सी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से (१७) पाराशरी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से (१७) वार्कारुणी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से (१९) वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से(२०)आर्तभागी पुत्र ने शौङ्गी पुत्र से (२१) शौङ्गी पुत्र ने सांकृतीपुत्र से (२२) सांकृती पुत्र ने आलम्बायनी पुत्र से (२३) आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से (२४) आलम्बी पुत्र ने जायन्ती पुत्र से(२५)जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से (२६) माण्डूकायनी पुत्र ने माण्डूकी पुत्रसे (२७) माण्डूकी पुत्र ने शाण्डिली पुत्र से (२८) शाण्डिली पुत्र ने राथीतरी पुत्र से(२९)राथीतरी पुत्र ने भालुकी पुत्र से(३०)भालुकी पुत्र ने क्रौञ्चिकी के दोनों पुत्रों से (३१) क्रौञ्चिकी के दोनों पुत्रों ने वैदभृती पुत्र से (३२) वैदभृती पुत्र ने कार्शकेयी पुत्र से (३३) कार्शकेयी पुत्र ने प्राचीनयोगी पुत्र से (३४) प्राचीन योगी पुत्र ने सांजीवी पुत्र से(३५)सांजीवी पुत्र ने प्राश्नी पुत्र—आसुरिवासी से (३६) प्राश्नी पुत्र ने आसुरायण से (३७) आसुरायण ने

*स्त्री प्रधानता से गुणवान पुत्र होता है यह प्रकरण है। इसलियेस्त्री (माता)के विशेषण से पुत्र को बतलाकर (अर्थात् पौतिमाषी के पुत्र ने कात्यायनी के पुत्र से इत्यादि रूप से) यह वंश वर्णन किया है (शंकराचार्य्य)पुत्रमन्थ कर्म स्त्रीके संस्कार के लिये कहा है,सो उस के निकट का यह वंश भी स्त्री की प्रधानता से कहा है (द्विवेदगङ्ग)

आसुरि से (३८) आसुरि ने ॥२॥ याज्ञवल्क्य से (३९) याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से (४०) उद्दालक ने अरुण से (४१) अरुण ने उपवेशि से (४२) उपवेशि ने कुश्रि से (४३) कुश्रि ने वाजश्रवा से (४४) वाजश्रवा ने जिह्वावान्–वाध्ययोग से (४५) जिह्वावान्–वाध्ययोग ने असित–वार्षगण से (४६) असित–वार्षगण ने हरित कश्यप से (४७) हरितकश्यप ने शिल्प–कश्यप से (४८) शिल्पकश्यप ने कश्यप–नैध्रुवि से (४९) कश्यप नैध्रुवि ने वाक् से (५०) वाक् ने अम्भिणी से (५१) अम्भिणी ने आदित्य से ॥ (इस परम्परा से) आदित्य से आए हुए ये शुक्ल*यजु वाजसनेय याज्ञवल्क्य (के नाम) से कहे जाते हैं† ॥३॥ सांजीवी पुत्र (संख्या ३५) तक (यह वंश समान है‡। इसके आगे (३५) सांजीवी पुत्र ने माण्डूकायनी से (३६) माण्डूकायनी ने माण्डव्य से (३७) माण्डव्य ने कौत्स से (३८) कौत्स ने माहित्थि से (३९) माहित्थि ने वामकक्षायण से (४०) वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से (४१) शाण्डिल्य ने वात्स्य से (४२) वात्स्य ने कुश्रि से (४३) कुश्रि ने यज्ञवचा-राजस्तम्बायन से (४४) यज्ञवचा-राजस्तम्बायन ने तुर–कावषेय से (४५) तुर–कावषेय ने प्रजापति से (४६) प्रजापति ने ब्रह्म से (४७) ब्रह्म स्वम्भु (स्वयं होने वाला, अनादि) है, ब्रह्म को नमस्कार है§ ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यक–उपनिषद् समाप्त

---

* शुक्ल क्योंकि ये ब्राह्मण के साथ मिले हुए नहीं हैं, अथवा शुद्ध (दोषों से रहित) (शंकराचार्य्य) ॥ † वाजसनेय शाखा के यजु सूर्य्य से उपदेश किये गए हैं और याज्ञवल्क्य ने पाए हैं, यह सब पुराणों में प्रसिद्ध है (द्विवेदगङ्ग) ‡ सांजीवी पुत्र तक सारी वाजसनेयि शाखाओं में एकसा वंश है (आनन्दगिरि) ॥

§ यह चौथी कण्डिका माध्यन्दिनपाठ में नहीं पाई जाती, पर इसी प्रकार का पाठ शतपथ ब्राह्मण १० । ६ । ५ । ९ में पाया जाता है, जहां वात्स्य, शाण्डिल्य से पहिले आया है ॥

कण्डिकाओं का अकारादि सूची ।

इति

१—ईश उपनिषद् =)	८—ऐतरेय उपनिषद्
२—केन उपनिषद् =)	९—छान्दोग्य उपनि
३—कठ उपनिषद् |—)	१०—बृहदारण्यक द
४—प्रश्न उपनिषद् |)	११—श्वेताश्वतर उपनिषद् |)॥
५,६—मुण्डक और माण्डूक्य|—)	ग्यारह इकट्ठी लेने में ५|=)
७—तैत्तिरीय उपनिषद् |≡)	

[घ] उपनिषदों पर बड़े उत्तम २ विचार के ग्रन्थ।

(१) उपनिषदों की भूमिका—उपनिषदों के सभी विषय और उपनिषदों पर विचार करने वाले पुराने सभी आचार्यों के सिद्धान्त इस में दिखलाए गए हैं ।)॥

(२) उपनिषदों की शिक्षा—इस में सारी उपनिषदों के वाक्य देकर एक २ विषय ऐसा पूर्ण बना दिया गया है कि पढ़ने वाला गद्गद होजाता है। इसके चार भाग हैं। (१) **पहला भाग** निरा परमात्मा के वर्णन में—परमात्मा के सम्बन्ध में बड़े २ अद्भुत २७ प्रकार के विचार हैं ॥=) (२) **दूसरा भाग**—आत्मा और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में ६८ प्रकार के विचार ॥) (३) **तीसरा भाग**—मरने के पीछे की अवस्थाओं, कर्म, चरित और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में २५ प्रकार के विचार ॥) (४) **चौथा भाग**, उपासना, उपासना का फल, और मुक्ति के सम्बन्ध में ८१ प्रकार के विचार ॥=)

(ङ) मनुस्मृति—भाषा अर्थ बड़ा सरल, गूढ बातों का तात्पर्य खोला हुआ, मनुस्मृति पर संस्कृत में जो पुरानी सात टीका हैं, उनके तात्पर्य भी नीचे साथ २। हरएक विषय पर दूसरी स्मृतियों के हवाले भी साथ२। आदि में विषय सूची और सारे श्लोकों का अकारादि सूची भी दे दिया है। ३)

(च) वेदों के उपदेश—(१) **वेदोपदेश** पहला भाग-भगवान्

कंण्डिका ।वेद मन्त्रों से ।॥।) (२) स्वाध्याय—नित्य पाठ के लिये उपदेश ।॥।) (३) आर्य-पञ्चमहा यज्ञपद्धति—पांचमहा

सहोवाचतथा नमन्त्रों के पूरे २ अर्थ और उन पर विचार ।)॥

(छ) दर्शन शास्त्र (१) वेदान्त दर्शन—दो भागों में पहला भाग १।॥=) दूसरा भाग १।॥=) दोनों इकट्ठे ३॥) (२) योग दर्शन—बड़ा खोल कर समझाया हुआ ।॥।) नव दर्शन संग्रह चार्वाक, बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, और वेदान्त इन नौ दर्शनों के सिद्धान्तों का पूरा वर्णन १)

(४) सांख्य शास्त्र—के तीन प्राचीन ग्रन्थ ॥=)

(ज) पारस्कर गृह्यसूत्र—संस्कारों की पद्धतियां, मन्त्रों के अर्थ और हवाले सब कुछ इसमें है, हरएक गृहस्थ के पास रहने योग्य है १॥)

(झ) स्वामी शङ्कराचार्य का जीवन चरित्र—इसी में कुमारिल भट्टाचार्य, और मण्डन मिश्र का जीवन चरित्र भी है ॥)

(ञ) धर्म के उपदेश—(१) उपदेश सप्तक ।—) (२) वासिष्ठ धर्म सूत्र ।)॥ (३) प्रार्थना पुस्तक —) (४) ओङ्कार की उपासना और माहात्म्य —) (५) वेद और रामायण के उपदेश —) (६) वेद और महाभारत के उपदेश —) (७) वेद, मनु और गीता के उपदेश—)। (८) सामाजिक स्तुति प्रार्थना —)। सजिल्द ≡)

(ट) स्कूल पुस्तकें—(१) बाल-व्याकरण—संस्कृत भाषा का हिन्दी में बड़ा सरल व्याकरण। इस पर २००) इनाम मिला है ॥) (२) संस्कृत की प्रथम पुस्तक —)। (३) हिन्दी की पहली)॥ (४) हिन्दी गुरुमुखी)॥

पता—मैनेजर आर्ष-ग्रन्थावलि, लाहौर